ऋषि दयानन्द का क्रान्तिकारी चिन्तन

लेखक:-
प्रो० (डॉ०) भवानीलाल भारतीय

831

सरस्वती साहित्य संस्थान
295 जागृति एन्कलेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92

स्वराज्य के वीर बहादुर बलिदानी

स्वराज्य एवं वैदिक उद्धार के लिए हमारे वीर बहादुर देशभक्त सदियों से विदेशी विधर्मी आततायियों से जूझते आ रहे थे। सिंध के महाराज दाहर, लाहौर तथा कावुल के राजा जयपाल, आनन्दपाल, दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान, मेवाड़ के महाराणा प्रताप, राणा सांगा, रणथम्बौर के महाराज हमीर, और दुर्गादास राठोर, विजय नगर के राजा कृष्ण देव, महाराष्ट्र के शिवाजी, देशधर्म पर बलिदान होने वाले बालक वीर हकीकत राय, गुरू तेगबहादुर, गुरू गोबिन्द सिंह एवं उनके प्रिय बच्चे, वीर बन्दा वैरागी, भाई मतिदास, चित्तौड़ की महारानी पदमिनी, झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई, राजा कुंवरसिंह, तान्तीया टोपे, नाना जी राव पेशवा, मंगल पाण्डे तथा असंख्य देशभक्त वीर बलिदानी, लाखों अमर शहीदों ने अपनी भारत माता पर खून बहाया, देश और धर्म की रक्ष के लिए देश की आन बान शान के लिए अपना सर्वस्व बलिदान किया। स्वतंत्रता के शिल्पी, देश और धर्म के लिए अपना सारा जीवन लगा देने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके सारे शिष्य अमर बलिदानी श्यामजीकृष्ण वर्मा, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, वीर सावरकर भाई, भाई परमानन्द आदि हज़ारों लाखों वीर शहीदों ने मुस्लिम आततायियों से लेकर अंग्रेजों तक स्वतंत्रता के लिए कड़ा संघर्ष किया अपनी जवानियां लुटा कर आख़िरी सांस तक लड़ते रहे। नई पीढ़ी में सरदार भगत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, बाबू सुभाष चन्द्र बोस ने अपना जीवन न्यौछावर किया।

भारत को दारूल इस्लाम बनाने का ख्वाब लेकर पांच सौ वर्ष तक यहां राज करने के बाद सत्ता के बल पर भी वह भारत माता को इस्लामी राष्ट्र नहीं बना सके। उसका एक ही कारण था कि हमारे पूर्वज तन और धन से भले ही गुलाम थे परन्तु मन से कभी गुलाम नहीं हुए। इसे दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि देश के कर्णधारों ने देश के टुकड़े कर दिये। जनमत लिए विना आर्यसमाज, हिन्दू महासभा के घोरतम विरोध के बावजूद चौदह पन्द्रह अगस्त, 1947 की आधी रात को देश का बंटवारा कर दिया।

दूरभाष : 22152435

मेहता रवीन्द्र आर्य

॥ ओ३म् ॥

ऋषि दयानन्द का क्रांतिकारी चिन्तन

(आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द के क्रांतिकारी चिन्तन के दस स्वर्णिम सूत्र)

लेखक :

प्रो. (डॉ.) भवानीलाल भारतीय

सरस्वती साहित्य संस्थान

295, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92

दूरभाष : 22152435, 65909389

ऋषि दयानन्द का क्रांतिकारी चिन्तन

लेखक : **प्रो. (डॉ.) भवानीलाल भारतीय**

© सर्वाधिकार सुरक्षित

संस्करण : ज्येष्ठ पूर्णिमा, वि. २०६४, 31 मई 2007 ई०

मूल्य : १८ रुपये – **(Rs. 18)**

सरस्वती साहित्य संस्थान
295, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष : 22152435, 65909389

श्री रवीन्द्र कुमार मेहता द्वारा रामप्रिन्टोग्राफ़, (इण्डिया) दिल्ली से मुद्रित

प्राक्कथन

ऋषि दयानन्द के जीवन, व्यक्तित्व, विचार तथा कार्य के अध्ययन, विवेचन तथा मूल्यांकन में मैंने अपने जीवन के लगभग पैंसठ वर्ष लगाए हैं। कारण कि मैंने ऋषि के जीवन एवं विचारों का अध्ययन तभी आरम्भ कर दिया था जब मैं आठवीं श्रेणी का विद्यार्थी था और मेरी आयु पन्द्रह वर्ष से अधिक नहीं थी। इस दीर्घावधि में मेरे दयानन्द विषयक लगभग साठ से अधिक ग्रन्थ छप चुके हैं। इनमें प्रमुख हैं—उनके दो मौलिक जीवनचरित, अन्य लेखकों के द्वारा लिखे गये जीवन-चरितों का सम्पादन, ऋषि की विभिन्न प्रचार यात्रायें तथा विभिन्न स्थानों में उनके प्रवास का विवरण, ऋषि के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन, ऋषि दयानन्द के विचारों तथा कार्यों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन, स्वामी दयानन्द विषयक श्रद्धांजलिपरक ग्रन्थों का सम्पादन आदि।

स्वामी दयानन्द के विचारों तथा मन्तव्यों का यों तो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अध्ययन दिया गया है, किन्तु एतद् विषयक सहस्रों ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि बहुत कम लेखक और विचारक दयानन्द के चिन्तन की मौलिकता तथा क्रांतदर्शिता को समझने में सफल हुए हैं। एक अन्य विस्मयजनक तथ्य यह है कि स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज के स्वयं को अनुयायी कहने वालों की अपेक्षा उन चिन्तकों ने दयानन्द के हृदयस्थ भावों को अधिक सच्चाई से समझा है जो औपचारिक रूप से आर्यसमाज से कभी नहीं जुड़े किन्तु दयानन्द के वैचारिक पक्ष का अध्ययन उन्होंने सर्वाधिक तत्परता, तल्लीनता तथा निष्पक्ष भाव से किया है। ऐसे विश्लेषकों में मैं योगी अरविन्द, फ्रेंच मनीषी रौमां रौलां, बंगला लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, साधु टी.एल. वास्वानी तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष

डॉ. रघुवंश की गणना करता हूं। उपर्युक्त लेखकों के दयानन्द विषयक विचारों से हम चाहें सर्वांश में सहमत न हों, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि दयानन्द के हृदयस्थ भावों और विचारों को तथ्यपूर्ण शैली में विश्लेषित करने में ये सफल हुए हैं।

गत वर्ष ही स्वामी दयानन्द के चिन्तन और उनके जीवन दर्शन पर मेरी एक बड़ी पुस्तक 'ऋषि दयानन्दः सिद्धात और जीवन दर्शन' (प्रकाशक श्री धूड़मल प्रह्लाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास हिन्डौन) प्रकाशित हुई है जिसमें स्वामी दयानन्द की विचार सम्पदा का विस्तृत आकलन प्रस्तुत किया गया है। इसी संदर्भ में मैंने अनुभव किया कि स्वामी दयानन्द में निश्चय ही कुछ ऐसे क्रांतिकारी तत्त्व समाहित थे जो सामान्यतया अन्य महापुरुषों में हमें दिखाई नहीं देते। जब ऐसे तत्त्वों को मैंने सूचीबद्ध किया तो इन्हें **दयानन्दनीय चिन्तन के स्वर्णिम सूत्र** नाम देने का विचार आया और इन्हें किञ्चित विस्तार से विवेचित करने का मानस बना। तदनुसार दयानन्दीय क्रान्तिकारी चिन्तन के स्वर्णिम सूत्र नाम देकर इन्हें स्वल्प विस्तार दे दिया। गत 6 अप्रैल को गुड़गांव में सरस्वती साहित्य संस्थान दिल्ली के संचालक श्री रवीन्द्र मेहता से भेंट हुई तो विचार हुआ कि इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए श्री मेहता जी से निवेदन करूं। मेरे इस प्रस्ताव को उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और आज पाठकों के समक्ष **'ऋषि दयानन्द का क्रांतिकारी चिन्तन'** शीर्षक से मेरा यह विश्लेषण पाठकों के समक्ष आ रहा है। मेरा पाठकों से यही निवेदन है कि वे इस अध्ययन पर अपने विचारों एवं प्रतिक्रिया से लेखक को अधोलिखित पते पर अवश्य सूचित करें। अभी तो इतना ही।

–(डॉ.) भवानीलाल भारतीय

बुद्ध पूर्णिमा, वैशाख पूर्णिमा 2064 वि.
शान्ति निकेतन, 3/5 शंकर कालोनी, श्री गंगानगर (राज.)
8/423 नन्दन वन जोधपुर (राज.)

ऋषि दयानन्द का क्रांतिकारी चिन्तन

प्रथम सूत्र

जो कुछ लिया, भारत और भारतीयता से लिया

ऋषि दयानन्द की विचार सम्पदा, उनका चिन्तन तथा कार्य प्रणाली बहु आयामी थे। उनके धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चिन्तन पर अनेक प्रबुद्ध विचारकों, तथा लेखकों ने विस्तार से विचार किया है। उनके वेद विषयक विचारों, वेदाधारित उनके दर्शन तथा सामाजिक क्रांति के प्रेरक उनके गतिशील कार्यक्रम ने लाखों लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। तथापि उनके जीवन दर्शन तथा मौलिक सिद्धान्तों को गतिमान बनाने वाले कतिपय सूत्रों की ओर हमारा ध्यान उस समय जाता है जब हम उनके साहित्य और जीवन पर समग्र रूप में दृष्टिपात करते हैं। हमें यह पता लगाना चाहिए कि वे कौन से मौलिक सूत्र हैं जिनके कारण स्वामी जी न केवल अपने युग पर अपने विचारों की स्थायी छाप छोड़ सके अपितु आने वाले युगों को भी प्रभावित कर सके।

यहां हम स्वामी दयानन्द के क्रांतिकारी चिन्तन के मौलिक उत्प्रेरक उन सूत्रों की विवेचना करेंगे जिनके कारण दयाननद ने न केवल अपने विचारों और कार्यों को ही महत्त्वपूर्ण बना लिया था अपितु उनकी उपयोगिता तथा अपरिहार्यता को सभी ने एक स्वर से मान्यता दी थी। सर्व प्रथम हम देखते हैं कि यद्यपि स्वामी दयानन्द की सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा, उनका अध्ययन और विद्याभ्यास भारत की पुरातन परम्पराओं पर आधारित था, वे पश्चिमी शिक्षा या चिन्तन के थोड़े सम्पर्क में भी नहीं आये थे तथापि उनके विचारों और कार्यों में जो गतिशीलता, दूरदर्शिता तथा भविष्य को पहचानने की अपूर्व सूझ दिखाई

दी, उससे यह सिद्ध हुआ कि केवल पश्चिम का मुखापेक्षी होकर ही कोई स्वयं को प्रगतिशील कहे, यह आवश्यक नहीं है।

इस प्रसंग में हम उनके समकालीनों तथा उनके पश्चात्वर्ती उन महापुरुषों को देखें जो भारतीय नवजागरण के अग्रणी माने जाते हैं। इतिहासकारों ने ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहनराय को भारत का प्रथम आधुनिक विचारों वाला महापुरुष कहा है। यह सत्य भी है क्योंकि राममोहन राय ने 1828 में ब्रह्मसमाज की स्थापना कर धर्म, समाज तथा सार्वजनिक जीवन में नवोन्मेष किया था। वे एकेश्वरवाद के प्रबल समर्थक तथा सामाजिक सुधारों में अग्रणी माने जाते हैं। तथापि यह कहना असमंजसपूर्ण नहीं है कि राजा महोदय की विचार सम्पदा तथा उनका बौद्धिक पक्ष पश्चिम से बहुत अधिक प्रभावित था। वैदिक एकेश्वरवाद की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाले तथा ईसाइयत में स्वीकृत त्रित्ववाद (पिता, पुत्र, तथा पवित्र आत्मा) की आलोचना करने वाले राममोहन राय ने ईसाई आचारशास्त्र की श्रेष्ठता को पदे पदे उद्घोषित किया था। वे भारत में विदेशी शासन के समर्थक थे तथा अंग्रेजी राज्य के वरदानों को बयान करने में कभी कृपणता नहीं दिखाते थे।

राजा राममोहन राय के बाद ब्रह्मसमाज की बागडोर जब ऋषि कल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर के हाथों में आई तो यह आशा बंधी कि ठाकुर महाशय भी इस समाज को पश्चात्य मूल्यों से दूर रखकर स्वदेशी ताने बाने में ही चलायेंगे, किन्तु शीघ्र ही ब्रह्मसमाज के कथित प्रगतिशील तत्त्वों ने समाज का नेतृत्व ईसाइयत की ओर स्पष्ट झुकाव रखने वाले युवा नेता केशवचन्द्र सेन को सौंप दिया। सेन महाशय की ईसा और ईसाइयत के प्रति आसक्ति सर्व विख्यात है। उन्होंने न केवल ईसाइयत के आचारणगत तत्त्वों का प्रवेश ब्रह्मसमाज में कराया अपितु

परमहंस रामकृष्ण के सम्पर्क में आने के पश्चात् हिन्दू देवतावाद तथा पौराणिक पूजा-उपासनाओं को भी उस ब्रह्मसमाज में प्रविष्ट कराने की चेष्टा की जिसे राममोहन राय ने वेदों और उपनिषदों के विशुद्ध ब्रह्मवाद पर स्थापित किया था। केशव सेन भी ब्रिटिश शासन के प्रशंसक तथा समर्थक रहे तथा विदेशी राज्य से उन्हें कभी असहजता महसूस नहीं हुई।

ध्यान रहे कि अपने कलकत्ता प्रवास में ऋषि दयानन्द देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन दोनों के सम्पर्क में आये थे और उन्होंने निकट से देखा था कि सैद्धान्तिक दृढ़ता के अभाव में ब्रह्मसमाज किस प्रकार विघटित हो रहा है और देखते देखते उसमें परम्परावादियों तथा कथित प्रगतिशीलों ने अपने अपने दो धड़े बना लिए हैं। आदि ब्रह्मसमाज के झण्डे के नीचे यदि देवेन्द्रनाथ के शिष्यों ने अपने को समूहबद्ध कर लिया था तो नवविधान की स्थापना कर केशवचन्द्र ने गुरुडम का आडम्बर खड़ा कर लिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में देशवासियों ने रामकृष्ण मिशन और उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के उस पुरुषार्थ को देखा जिसने भारत के धर्म और संस्कृति की विजय वैजयन्ती को पश्चिमी देशों में अपनी सशक्त वाग्मिता तथा वाक्चातुर्य के द्वारा फहराया था। इस युवा संन्यासी ने अद्वैत वेदान्त को पुरुषार्थ और कर्म का पर्याय बताया जबकि मध्य कालीन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत धारणाओं के कारण वह नैराश्य, पलायन तथा अकर्मण्यता का प्रतीक बन गया था। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन में पश्चिम की सहभागिता सदा रही थी। उनका शास्त्रीय अध्ययन तलस्पर्शी और गम्भीर नहीं था, तभी तो उन्होंने प्रो. मैक्समूलर की प्रशंसा में अपनी सम्पूर्ण शब्द सम्पदा को समाप्त कर दिया और उन्हें पुराकालीन वैदिक ऋषियों का

अवतार घोषित किया। वेदार्थ करने में प्रो० मैक्समूलर के पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण से यदि वे परिचित होते तो उन पर स्पष्ट हो जाता कि मैक्समूलर ने वेदों की तुलना में ईसाइयत को अधिमान देकर अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णता तथा मताग्रह को ही प्रकट किया है। स्वामी विवेकानन्द ने ब्रिटिश शासन से कभी विरक्ति तथा अस्वस्ति अनुभव नहीं की। इसके विपरीत वे अपने समकालीन बंगाल के क्रांतिकारी आन्दोलन के मुखर आलोचक रहे। अमेरिका तथा पश्चिम के देशों से प्राप्त अपनी प्रशंसा और ख्याति से वे इतने अभिभूत थे कि उन्हें पश्चिमी देशों में गुण ही गुण नज़र आये और भारतवासियों में मात्र दोष दिखाई पड़े।

स्वामी विवेकानन्द ने यदि पश्चिम की यात्राएं नहीं की होतीं और वहां के पठित समुदाय को अपने व्याख्यान कौशल से विस्मयान्वित नहीं किया होता तो इस बात की कम सम्भावना थी कि वे अपने वेदान्त आधारित विचारों को विदेशी लोगों तक पहुंचा पाते। भारत में विवेकानन्द अंग्रेज़ी पठित समुदाय को तो यत्किंचित प्रभावित कर सके किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति ही होगी कि इस देश के बृहत् मानव समुदाय के सर्वतोमुखी उत्थान में वे कोई विशिष्ट योगदान कर पाये। आज भी यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि रामकृष्ण–विवेकानन्द के साहित्य के पाठक तथा उनके मठों में होने वाले प्रवचनों के श्रोता आभिजात्य वर्ग के लोग होते हैं और महानगरों में स्थित इन मठों में रामकृष्ण मतानुयायी स्वामियों के भाषण अधिकतर अंग्रेज़ी में ही होते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम से जितना ग्रहण किया उसकी तुलना में वे इस देश के बौद्धिक अवदान को खुद कम ग्रहण कर पाये।

अब आगे की बात करें। बीसवीं शताब्दी के भारतीय नेता, चाहे वे समाज के क्षेत्र में कार्य करने वाले हों या राष्ट्रीय

राजनीति के धुरन्धर हों, सभी पश्चिम से प्रभावित थे। श्री अरविंद ने इंग्लैंड में रहकर आई.सी.एस. का प्रशिक्षण लिया था। लोकमान्य तिलक यद्यपि धर्म और दर्शन के अप्रतिम पण्डित थे तथापि वेदों की कालगणना में उन्होंने भयंकर भूल की और वेदों के प्रादुर्भाव का स्थान ध्रुव प्रदेश को घोषित किया। द्रष्टव्य—उनका ग्रन्थ 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़'। सामाजिक दृष्टि से तिलक पुराणपन्थी तथा अनुदार थे। ऋषि दयानन्द के एक शिष्य न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे ने जब आल इण्डिया सोशल कान्फ्रेंस के मंच से व्यापक स्तर पर समाज सुधार के अनुकूल कार्यक्रम चलाया तो तिलक उनके प्रमुख विरोधी बने। उनका तर्क था कि जब हम स्वतंत्र हो जायेंगे तो समाज सुधार का काम स्वतः करेंगे। वे समाज सुधार को कानून से लागू करवाने के विरोधी थे। यही कारण है कि जब सुधारक दल ने 'एज आफ़ कन्सेंट' बिल केन्द्रीय धारा सभा में प्रस्तुत किया तो तिलक उसके विरोध में आ गये। इस बिल का आशय बालिका वधू से यौन सम्बन्ध करने को प्रतिबंधित करना था।

जहां तक गांधी जी का सम्बन्ध है, यद्यपि उन्होंने आचार-विचार-व्यवहार में भारतीयता को अपनाया था तथापि पश्चिमी विचारकों से अपना जीवनदर्शन निर्धारित करने में उन्होंने स्पष्ट प्रेरणा ली थी। अपनी आत्मकथा में वे स्वीकार करते हैं कि जॉन रस्किन के ग्रन्थ 'अन टू दि लास्ट' में व्यक्त विचारों ने मेरे असहयोग तथा सत्याग्रह विषयक विचारों को प्रभावित किया है तथा रूसी लेखक तालसताय की विचारधारा ने भी मुझे अत्यधिक प्रभावित किया है। पं. जवाहरलाल नेहरू की स्पष्टवादिता की प्रशंसा करनी होगी जब वे कहते हैं कि मेरी शिक्षा पश्चिमी ढंग की है, मेरा लालन-पालन मुसलमानी तौर-तरीक़ों से हुआ। हिन्दू तो मैं हिन्दू कुल में जन्म लेने से

(By accident) ही हूं। इसे तो संयोग ही समझना चाहिए। राजनीतिज्ञों की बात न भी करें तो भी हम देखते हैं कि डॉ. राधाकृष्णन आदि सभी दार्शनिक और चिन्तक पश्चिम की विचारधारा से अनुप्राणित थे।

दयानन्द शत प्रतिशत भारतीय–इसके विपरीत स्वामी दयानन्द को देखें। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कारों से उनका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा। जब केशव सेन ने उन्हें इंग्लैंड चलकर वहां वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए प्रेरित किया तो उन्होंने विनम्रतापूर्वक यही कहा कि अभी तो स्वदेश में ही उन्हें पर्याप्त समय तक काम करना होगा। दयानन्द को वैचारिक प्रेरणा भारत के प्राचीन शास्त्रों, यहां के धर्म, दर्शन तथा चिन्तन से मिली थी। वे यूनानी दार्शनिकों तथा मिल, बेन्थम, काण्ट आदि यूरोपीय विचारकों के मन्तव्यों से अपरिचित थे। पश्चिम में प्रजातंत्र के उद्भव का समाचार ज्ञात होने पर भी वे आर्यसमाज में जिस प्रजातंत्र को स्थापित करना चाहते थे, वह शत-प्रतिशत उनकी मौलिक उद्भावना थी। इनके प्रेरणा स्रोत वेद, उपनिषद्, सूत्र, स्मति, पुरातन, इतिहास आदि थे और हिन्दी, संस्कृत तथा मातृभाषा गुजराती के अतिरिक्त वे किसी चौथी भाषा का सामान्यज्ञान भी नहीं रखते थे। इतिहासकारों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि दयानन्द का धर्मान्दोलन बावन तोले पाव रत्ती विशुद्ध भारतीय था। डॉ. रामधारीसिंह दिनकर तथा डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने ग्रन्थों में इस तथ्य को सतर्क अनुमोदित किया है। इसी तथ्य की पुष्टि फ्रैंच लेखक रौमां रौलां ने इन शब्दों में की है "केशव सेन के प्रभाव का निराकरण करने और भारत को पश्चिम के रंग में रंगने के सम्पूर्ण प्रयासों को हटाने के लिए दयानन्द की विचारधारा ने एक विशुद्ध भारतीय समाज संगठन को जन्म दिया है।"

द्वितीय सूत्र

संस्कृत में लिखे सभी ग्रन्थ शास्त्र नहीं हैं

भारतीय धर्म एवं दर्शन में शास्त्रों को अत्यधिक महत्व मिला है। गीता में कृष्ण की प्रसिद्ध उक्ति है कि जो शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन कर स्वेच्छाचार करता है उसे न तो स्वकार्य में सिद्धि मिलती है और न मोक्ष लाभ होता है।[1] इसलिए कृष्ण महाराज ने कार्य और अकार्य के निर्णय में शास्त्र का मार्गदर्शन आवश्यक माना है।[2] अनादि काल से भारतीय धर्म चिन्तन में शास्त्रों को अपौरुषेय तथा पौरुषेय-इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है। वेदों को अपौरुषेय तथा ईश्वर प्रदत्त अनादि ज्ञान स्वीकार किया गया है। अपौरुषेय वेदों के अनुकूल तथा उनके मन्तव्यों की पुष्टि में लिखे गये ऋषि प्रणीत शास्त्रों को पौरुषेय माना गया। वेदों की अपौरुषेयता को भारतीय आर्यों ने सर्व सम्मति से स्वीकार किया था। वैशैषिक दर्शन की सम्मति में परमपुरुष का वचन होने के कारण वेदों को प्रमाण माना जाता है।[3] वेदान्त दर्शन के रचयिता भगवान् बादरायण व्यास ने परमात्मा को वेद शास्त्र का कारण बताया। *शास्त्र योनित्वात् 1/1/3*

कालान्तर में वेदों के पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन को सुचारु और सुव्यवस्थित करने के लिए वेदाङ्ग, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद् एवं आरण्यक संज्ञक ग्रन्थों की रचना हुई। इनके द्वारा वेदार्थ को जानने में सहायता मिली। साथ ही वेदों में जिन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों को संकेत मात्र से उल्लिखित किया गया था उन्हें उपनिषद्कार ऋषियों ने विस्तार दिया और आर्यों के सर्वोच्च ब्रह्मवाद को स्थापित किया। जब सूत्र शैली में दर्शन ग्रन्थों की रचना हुई तो ईश्वर, जीव तथा प्रकृति संज्ञक तीन अनादि तत्त्वों, सृष्टि रचना का

उपादान तथा उसका क्रम, परमात्मा की उपासना, आर्यों का तर्कशास्त्र तथा वैज्ञानिक चिन्तन एवं वैदिक कर्मकाण्ड का निरूपण इन ग्रन्थों में तार्किक शैली में किया गया। सांख्य दर्शन ने संसार के मूल उपादान प्रकृति तथा उससे विकासपूर्वक सृष्टि रचना को समझाया तो वैशैषिक दर्शन ने जड़ तत्त्व की सूक्ष्मतम इकाई 'अणु' का सतर्क विवेचन किया। न्यायदर्शन ने 'प्रमाण' और 'प्रमेय' संज्ञक दो तत्त्वों में समस्त सृष्टि प्रपंच को समेटा और प्रमाण विचार के अन्तर्गत सत्य को जानने के कारणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्दादि) की विशद् आलोचना की तो प्रमेय के अन्तर्गत चेतन तथा जड़ तत्त्वों की गहन समीक्षा की। वेदान्त दर्शन ने सृष्टि के निमित्त कारण ब्रह्म की गहरी विवेचना की तो योगदर्शन ने अष्टांग योग के आचरण के द्वारा समाधि को सिद्ध कर उस सर्वोच्च परमात्म तत्त्व तक पहुंचने का रास्ता बताया। वैदिक यज्ञों की छानबीन के लिए मीमांसा दर्शन की रचना हुई तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आये यज्ञ विषयक प्रसंगों पर विचार किया गया।

समयान्तर में इन दर्शनों की व्याख्या, विवेचना तथा इनमें विवेचित विषयों की विशद मीमांसा में सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु ये परवर्ती ग्रन्थ—लेखक इस तथ्य को नहीं समझ पाये कि छहों दर्शनों ने सर्वथा पृथक् पृथक् विषयों की विवेचना की है अतः उन्हें एक दूसरे का विरोधी समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। स्वामी दयानन्द पहले चिन्तक थे जिन्होंने बताया कि ऋषियों के द्वारा प्रवर्तित ये दर्शन एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक हैं क्योंकि इनमें प्रस्तुत विषय समन्वित रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित दार्शनिक प्रश्नों का समाधान करते हैं।[4]

आर्ष महाकाव्य—आदर्श महापुरुषों के जीवनवृत्त तथा उनकी उदात्त शिक्षाओं को निरूपित करने वाले रामायण (वाल्मीकि प्रणीत) तथा महाभारत (कृष्णद्वैपायन वेद व्यास

रचित) जैसे आर्ष काव्यों को भी 'शास्त्र' की संज्ञा मिली, कारण कि इनमें राम, कृष्ण, भीष्म, युधिष्ठिर सदृश लोकोत्तर चरित वाले आदर्श महापुरुषों के अनुकरणीय चरित को प्रस्तुत किया गया था। इस प्रकार आर्य शास्त्रों का संक्षेप में परिचय देना भी पर्याप्त स्थान मांगता है, तथापि यह कहना सर्वथा उचित है कि अपौरुषेय वेदों से आरम्भ कर महाभारत के विभिन्न प्रकरणों (गीता, विदुरनीति आदि) में विवेचित, धर्म तत्त्वज्ञान, नैतिक तथा आचारमूलक शिक्षाएं हमारे शास्त्रों के ऐसे प्रोज्ज्वल तथा उदात्त प्रसंग हैं जिन पर निखिल मानवता आज भी गौरव का अनुभव करती है।

असत् शास्त्रों का उद्भव–उन्नति और अवनति, प्रगति और प्रतिगामिता, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति और यथास्थितिवाद, ये सब साथ-साथ चलते हैं। यही कारण है कि महाभारत के युग तक शास्त्रों के उत्कर्ष का समय रहा तो भारत युद्ध के पश्चात् देश में आई सार्वजनिक दुर्दशा, अधोगति तथा पतन के कारण शास्त्र संज्ञक ग्रन्थों में भी विकृतियां आईं तथा शास्त्र नामधारी ऐसे ऐसे ग्रन्थ लिखे गये जो अनैतिक, अश्लील, प्रकृति विरुद्ध, सृष्टिक्रम के विपरीत तथा अनैतिक आचरण को प्रोत्साहन देने वाले थे। ऐसे ग्रन्थ समुदाय में शाक्त मत के विकृत रूप वाममार्ग की पुष्टि में लिखे गये तंत्रों तथा शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर तथा गणपत्य सम्प्रदायों के मान्य विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना, पूजा आदि के प्रतिपादक अठारह पुराणों की गणना होती है। स्वामी दयानन्द ने तंत्रों और पुराणों की शिक्षाओं को अनैतिक, सृष्टिक्रम विरुद्ध तथा मानवी बुद्धि को विकृत करने वाला बताया है। कालान्तर में जब सात्विक आचरण को महत्त्व देने वाले वैष्णव मत तथा भक्तिवाद का प्रचलन हुआ तो तंत्रों के प्रचार में न्यूनता आई। तथापि असम तथा बंगाल जैसे शाक्त मत को प्रश्रय देने वाले क्षेत्रों में भ्रष्ट वामाचार के समर्थक तन्त्र

साहित्य का प्रचलन यथावत रहा। स्वामी विवेकानन्द सदृश वेदान्तवादी साधु ने खेदपूर्वक माना है कि सदाचार को नष्ट करने वाला वाम मार्ग तथा उसके निरूपक तंत्र ग्रन्थ बंगाल के घर घर में अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं।[5]

संस्कृत में लिखा होने से कोई ग्रन्थ शास्त्र नहीं होता

इसी परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्द के इस स्वर्णिम सूत्र को परखना चाहिए जिसमें कहा गया है कि संस्कृत में लिखा या स्वयं को धर्म निरूपक कहने वाला प्रत्येक ग्रन्थ न तो धर्म ग्रन्थ है और न मान्य है। शास्त्र समुदाय में व्याप्त इस विकृति तथा अराजकता को चिन्तापर्वूक देखा जाना चाहिए कि वेदों तथा उपनिषदों जैसे सत् शास्त्रों की ही भांति रामचरितमानस जैसे लौकिक काव्यों, हनुमान चालीसा, शिव महिम्न आदि स्तोत्र ग्रन्थों तथा सत्यनारायण की कथा जैसे नवीन बनावटी ग्रन्थों को मान्यता और प्रामाणिकता की दृष्टि से एक ही स्तर पर रखा जाने लगा। एक धर्माचार्य ने तो गर्वपूर्वक कहा कि हमारी दृष्टि में तो वेदादि सत्य शास्त्र और हनुमान चालीसा आदि अवान्तरकालीन ग्रन्थ समान रूप से पूज्य, मान्य तथा स्वीकार्य हैं। इसे आप दुराग्रह तथा हठ के अतिरिक्त क्या कहेंगे?

आर्य शास्त्रों में आई इस विकृति और दुर्दशा को देख कर दयानन्द ने तार स्वर से घोषणा की **"संस्कृत में लिखी प्रत्येक रचना को 'शास्त्र' की संज्ञा नहीं दी जा सकती।"** उन्होंने स्पष्ट किया कि वेदों के बाद लिखे गये वे ही ग्रन्थ प्रमाण कोटि में आयेंगे जो विमल मेधा सम्पन्न, विवेकशील, आर्षप्रज्ञा के धनी ऋषि कोटि के महानुभावों के द्वारा लिखे गये हैं। शास्त्रों के नाम से प्रसिद्ध बृहद् ग्रन्थ-समुदाय में कौन से ग्रन्थ मान्य हैं और कौन से अमान्य हैं, इसे जानने के लिए उन्होंने जो कसौटियां हमें प्रदान कीं उनमें सर्वप्रमुख हैं ऋषि कृत ग्रन्थों में पाया जाने वाला प्रखर बुद्धिवाद, विषय

विवेचन में सरलता तथा सुगमता और वेदों के प्रति इनका पूज्य भाव। इसके विपरीत अनार्ष बुद्धि के लेखक अपने विवेचन को जटिल ओर दुरूह बनाते हैं तथा उनके लेखन में हठ, दुराग्रह आदि पाये जाते हैं।

स्वामी दयानन्द का तो यह भी कहना है कि छहों दर्शनों को लेकर जो अवान्तरकालीन साहित्य लिखा गया उसमें आर्ष मत का तिरस्कार है तथा अपने द्वारा कल्पित, असत्य एवं हठ तथा दुराग्रह पूर्ण विचारों को स्थान दिया गया है। प्रमाण रूप में वे कहते हैं कि बादरायण के वेदान्त सूत्र जहां ब्रह्म तत्त्व की स्वच्छ, सरल तथा हृदयग्राही विवेचना करते हैं वहां अवान्तर कालीन शंकर तथा उनके अद्वैतवादी शिष्यों ने इन सूत्रों की जो टीकाएं तथा व्याख्याएं लिखी हैं वे जटिल, शब्दाडम्बर युक्त, मूल से हट कर तथा अपने स्वयंपोषित अद्वैतवाद, मायावाद तथा जगन्मिथ्यावाद जैसे सिद्धान्तों के तमस से आच्छन्न हैं। इसी प्रकार उन्होंने गौतम प्रणीत न्यायदर्शन तथा उस पर लिखे गये वात्स्यायन मुनि के भाष्य को निर्दोष पाया तो कालान्तर में नदिया (नवद्वीप-बंगाल) में जन्मे नव्य न्याय को मात्र शब्दाडम्बर पूर्ण, काक ध्वनि की भांति निरर्थक तथा प्रमेय (ईश्वर, जीव, प्रकृति) तत्त्व की उपेक्षा कर मात्र प्रमाण मीमांसा में ही अपनी बौद्धिक शक्ति का अपव्यय करने वाला बताया। उन्होंने प्रमाण पुरस्सर सिद्ध किया कि सांख्य की सेश्वर (ईश्वर को मान्यता देने वाली) व्याख्या की अवगणना कर उसे निरीश्वरवादी बताना, वैशेषिक तथा मीमांसा में ईश्वरवाद की अनुपस्थिति बताना तथा पतंजलि के राजयोग की उपेक्षा कर मात्र कठिन शरीर साधना को हठयोग के नाम पर वरीयता देना ऐसे ही अनार्ष बुद्धि वाले लोगों का काम था। वे इन दर्शनों पर लिखे गये ऋषिकृत भाष्यों के समर्थक थे।

सच्चे शास्त्र की कसौटी क्या है?

दयानन्द का सर्वोपरि बल शास्त्रों की मान्यता के पीछे उनका युक्ति सिद्ध होना, वैज्ञानिक तथा सृष्टिक्रम के अनुकूल बात कहना तथा मनुष्य के विवेकु को पोषित, विकसित तथा जागृत करना ही मुख्य तत्त्व है। उन्होंने निरुक्त तथा मन्वादि शास्त्रकारों के हवाले से बताया कि ऋषि कोटि के प्रामाणिक पुरुषों के अभाव में तर्क की ही ऋषि संज्ञा है तथा तर्कानुमोदित आचार-विचार तथा विश्वास को धर्म कहना उचित है। केवल संस्कृत में लिखा होने से ही कोई ग्रन्थ शास्त्र नहीं कहलाता। मध्यकाल में मानव के विवेक को कुण्ठित करने वाले तथा उसमें अंधविश्वास, रूढ़िवाद तथा कूप मण्डूकता की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले अधिकांश ग्रन्थ लिखे गये और उन्हें ही धर्मग्रन्थ कहा जाने लगा। पुराणों में वर्णित मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जलाशयों में तीर्थबुद्धि तथा एकादशी आदि व्रतों से मोक्ष लाभ जैसे अंधविश्वासों के विरोध में उन्होंने क्रांति का शंखनाद किया। अनार्ष ग्रन्थों में बुद्धि विरुद्ध तथा अंधविश्वासों को प्रोत्साहित करने वाले जो नुस्खे लिखे गये हैं उनका नमूना पेश करते हुए दयानन्द चरित के मनीषी लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने कितना सटीक लिखा है—"आधुनिक समय के व्यवस्थापक (धर्मशास्त्र प्रणेता) और संग्रहकर्तागण भवदेव भट्ट, शूलपाणि, स्मार्त रघुनन्दन आदि वृषोत्सर्गादि श्राद्ध के विषय में विस्तारपूर्वक व्याख्या कर गये हैं, यहां तक कि छींक और छिपकली के गिरने आदि के शुभाशुभ फल के सम्बन्ध में व्याख्या दे गये हैं। किन्तु राष्ट्रीय प्रश्नों की चर्चा उनके ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलती।"

अनार्ष ग्रन्थों के प्रति दयानन्द के आक्रोश के निम्न कारण हैं—(1) ये ग्रन्थ वैज्ञानिक सोच को निरुत्साहित करते हैं तथा अंधविश्वास, मूढ़तापूर्ण आग्रहों तथा निरर्थक कर्मकाण्ड को प्रश्रय देते हैं। (2) इन ग्रन्थों की रचना साम्प्रदायिक आग्रह को ध्यान में रखकर की गई है। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि

मतों के पारस्परिक विद्वेष को बढ़ाने तथा सामाजिक समरसता को नष्ट करने में इन ग्रन्थों की मुख्य भूमिका रही है। पुराणों का सात्विक, राजस तथा तामस कोटियों में विभाजन ही इनकी निकृष्टता सूचित करता है। इन ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार से राष्ट्रीय एकता को हानि पहुंचती है तथा सामाजिक सद्भाव की क्षति हुई है।

शास्त्र ग्रंथों में प्रक्षेप किये गये

स्वामी दयानन्द की यह स्थापना भी स्वीकारने योग्य है कि वेदों से भिन्न अन्य शास्त्र ग्रन्थों में स्वार्थी, द्वेष मूलक भावना वाले तथा सम्प्रदाय विशेष के प्रति आसक्ति एवं अनुरक्ति रखने वाले क्षुद्रमनस्क व्यक्तियों ने जान बूझ कर, अपने क्षुद्रतम स्वार्थों की पूर्ति के लिए अनेक मिथ्या प्रसंगों को प्रक्षिप्त कर दिया है। ऐसे प्रक्षेप किये अंश यत्र तत्र शायद उपनिषदों में भी मिल जायें, किन्तु रामायण तथा महाभारत जैसे आर्ष इतिहास ग्रन्थ तो ऐसे मिथ्या प्रसंगों से भरे पड़े हैं। पुराणों के प्रबल पक्ष पोषक पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा पं. माधवाचार्य जैसे कथित सनातन धर्म के प्रवक्ताओं ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि न केवल रामायण एवं महाभारत में, अपितु पुराणों में भी समय समय पर अनेक अलीक बातों का मिश्रण किया गया है। इस स्थिति में इन्हें मान्यता नहीं दी जा सकती।

अन्ततः दयानन्द का यह कथन हमें पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत होता है जब वे कहते हैं कि मात्र संस्कृत में लिखा होने तथा किसी प्रख्यात व्यक्ति की रचना होने मात्र से ही वह ग्रन्थ शास्त्र कोटि में नहीं आता। इस निर्भीक घोषणा के द्वारा दयानन्द ने सद्धर्म के अन्वेषी तथा सत्यासत्य को जानने के इच्छुक लोगों के समक्ष शास्त्रों का विवेकपूर्वक अध्ययन करने तथा उनमें विद्यमान विषयों की तथ्यपूर्ण परताल करने के पश्चात् ही उन्हें स्वीकार करने की संस्तुति

की है। शास्त्र विषयक इस विवेक के द्वारा हम सत् शास्त्रों के निकट जायेंगे तथा शास्त्र नामधारी उस कूड़े-कचरे से अपने दामन को बचा सकेंगे जिसने हमारे विवेक को तो कुण्ठित किया ही हमारे सामाजिक तथा राष्ट्रीय एक्य को भी पलीता लगाने का काम किया है।

पाद टिप्पणियाँ

1. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
   न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥ 16/23
2. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
   ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥ 16/24
3. तद्वचनादामान्यस्य प्रामाण्यम्। 1/1/3
4. सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय (काल) की व्याख्या वैशेषिक में, उपादानकारण (प्रकृति-परमाणु) की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त में हैं। सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास।
5. द्रष्टव्य-स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द : तुलनात्मक अध्ययन—डॉ. भवानीलाल भारतीय
6. "महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी।" सत्यार्थ प्रकाश-तृतीय समुल्लास।
7. निरुक्त ने तर्क को ऋषियों का स्थानापन्न माना है।
8. तर्क के द्वारा ही धर्म का अनुसंधान किया जाता है।
   यस्तयर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेदनेतरः ॥ 12/106
9. ग्रन्थकार की भूमिका।

तृतीय सूत्र

वेद सर्वोपरि, सर्वस्वीकार्य शास्त्र हैं

महर्षि दयानन्द ने अपने इस मन्तव्य को दृढ़ता से स्थापित किया और बताया कि भारतवर्षीय आर्य जाति की उन्नति और प्रगति वेदाधारित शिक्षाओं को अपनाने से ही सम्भव है। वेदों की ओर लौटने की बात जब उन्होंने कही तो इसका अर्थ यह नहीं था कि वे वर्तमान के यथार्थ से मुंह मोड़ कर मानवता को अंधकारपूर्ण मध्य युग की ओर ले जाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में वेदोक्त धर्म मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायक तथा उसे प्रगति की ओर बढ़ने में सहायता देने वाला है।

वेद : मानव जाति के सर्वाधिक प्राचीन धर्मग्रन्थ

यदि प्रचलित भाषा में कुरान, बाइबिल, इंजील आदि की भांति वेदों को भी किसी मत-पन्थ या धर्म का मान्य ग्रन्थ कहा जाये तो भी यह मानना होगा कि वेद संसार के सर्वाधिक प्राचीन धर्म ग्रन्थ हैं। उनसे पुराना कोई ग्रन्थ आज संसार के पुस्तकालय में मौज़ूद नहीं है। जो पाश्चात्य या भारतीय विद्वान् चारों वेदों का आविर्भाव या प्रादुर्भाव काल यकसां (समान) नहीं मानते उन्होंने भी इतना तो स्वीकार किया ही है कि वेद मानव जाति के आदिम ग्रन्थ हैं।[1] धर्म, दर्शन, नीति और सदाचार सिखाने वाला उनसे अधिक पुराना कोई धर्म-ग्रन्थ आज इस धरती पर नहीं है।

इसके साथ ही हमें यह भी मानना होगा कि भारत के सब मत-सम्प्रदायों, धर्माचार्यों, मत प्रवर्तकों तथा धर्म ग्रन्थों ने एक स्वर से वेदों की सर्वोपरि मान्यता, सर्वोपरि प्रामाणिकता

तथा सर्व-स्वीकार्यता का अनुमोदन किया है। निश्चय ही स्वामी दयानन्द ने वेदों की इस सर्वोपरि प्रामाणिकता और धर्म निर्णय में उनकी सर्वोपरि साक्षी को बहुत मज़बूती से रखा था तथा वे अपने इस विचार पर चट्टान की भांति अविचलित खड़े रहे। दयानन्द जानते थे कि भारतीय धर्म-चिन्तन में शास्त्र प्रामाण्य को मुख्य आधार स्वीकार किया है। इसी विचार के अनुसार उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के प्रारम्भिक प्रकरणों में सांख्यादि छहों दर्शनों[2], व्याकरण महाभाष्य तथा ब्राह्मण-उपनिषदादि[3] के वाक्यों को उद्धृत कर वेदों की नित्यता, उनके परमेश्वरोक्त होने, फलतः मानव के सतत् पथ-प्रदर्शक होने की बात कही। वेदों की इसी स्थिति को सहस्राब्दियों पूर्व मनु ने उद्घोषित करते हुए कहा था कि सर्वप्रथम वेद, तत्पश्चात् स्मृति, तदनुवर्ती सदाचार तथा अपने आत्मा की गवाही, धर्मनिर्णय के यही चार मुख्य साधन हैं।[4] इसके साथ मनु का यह भी कहना है कि ये वेद पितरों, देवों तथा मनुष्यों (मानव की विभिन्न श्रेणियों) के सनातन चक्षु हैं जो उसे धर्माधर्म, सत्यासत्य और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् ज्ञान करते हैं।[5] आर्य परम्परा में इन्हें सर्वोपरि सम्मान तथा मान्यता प्राप्त है। वेदों का सर्वविद्यामयत्व स्थापित करना दयानन्द की वेदविषयक मौलिक अवधारणा थी। वे इन वेदों को समस्त भौतिक तथा दिव्य ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत मानते थे तथा यह भी कहते थे कि मानवोपयोगी ज्ञान बीज रूप में वेदों में है।[6]

वेदों में सम्प्रदाय विशेष का आग्रह नहीं

धार्मिक, दार्शनिक तथा आचार विषयक मान्यताओं में जो अनेकता तथा विभिन्नता उत्पन्न हुई, उसी के फलस्वरूप संसार में विभिन्न मत-पन्थों, सम्प्रदायों तथा मज़हबों की उत्पत्ति हुई। गंगाप्रसाद जज ने अपने विख्यात ग्रन्थ "धर्म

का आदि स्रोत" में विभिन्न हेतुओं और प्रमाणों से सिद्ध किया है कि संसार का सर्वाधिक प्राचीन धर्म वेद प्रतिपादित आर्यधर्म ही था। उसकी नैतिक और आचारगत शिक्षाओं को प्रधानता देकर भारत में बौद्ध तथा जैन मतों का प्रादुर्भाव हुआ तो इनकी सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि शिक्षाओं के साथ-साथ पैग़म्बरवाद का जब मिश्रण हुआ तो मध्य एशिया में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम जैसे एक खुदाई किताब और एक मार्गद्रष्टा पैग़म्बर या नबी में विश्वास रखने वाले पैग़म्बरवादी सैमेटिक मज़हब पनपे। स्वामी विवेकानन्द ने मत-मज़हबों की इस विकास यात्रा को एक विशिष्ट तर्कपूर्ण शैली में उस समय प्रकट किया जब विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका प्रस्थान करते समय उन्होंने अपनी इस यात्रा का उद्देश्य इस प्रकार व्यक्ति किया। I go forth to preach a religion of which Buddhism is a rebel child and Christianity a distant echo.[8] अर्थात् मैं उस धर्म का प्रचार करने जा रहा हूं, बौद्ध धर्म जिसका एक विद्रोही बालक समान है और ईसाइयत तो बहुत दूर के देशों में गूंजने वाली उसी वेदोक्त धर्म की मात्र प्रतिध्वनि है। सच ही, बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म की विकृतियों (पशु बलि युक्त यज्ञों तथा जन्माधारित जाति प्रथा एवं छुआछूत) के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई थी और यदि ईसाइयत में से देवदूत ईसा तथा उसके शिष्यों की कथाओं को हटा कर मात्र उसकी आचारगत शिक्षाओं को देखें तो वे वैदिक आचारशास्त्र की ही मध्य एशियायी व्याख्याएं दिखाई देंगी।

वेदों की शिक्षा असम्प्रदायिक तथा नितान्त मानवीय है

प्रचलित मत-सम्प्रदायों में मान्य ग्रन्थों पर किसी न किसी सम्प्रदाय की एकान्तिक मान्यता का ठप्पा लगा हुआ है। गुरुओं की शिक्षाओं का संग्रह सिखों के लिए ईश्वर वाक्य

की भांति मान्य है तो कुरान की उत्पत्ति चाहे अरब की मध्यकालीन स्थिति विशेष में हुई हो किन्तु आज वह संसार के समस्त मुसलमानों के लिए एक मात्र खुदाई पुस्तक है। बाइबिल के पुराने और नये अहदनामों को यहूदी और ईसाई मान्यता देते हैं तो पारसियों की धर्म पुस्तक जेंदावस्ता उन्हीं लोगों को स्वीकार्य है। हिन्दुओं के मान्य धर्म ग्रन्थ विभिन्न देवी-देवताओं को मान्यता देते हैं और एक दूसरे से पृथकता रखते हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण वैष्णवों को मान्य हैं तो शिव और लिंग पुराण शैवों के लिए आदरणीय हैं। देवी भागवत और वैष्णव भागवत की प्रतिद्वन्द्विता विख्यात है क्योंकि ये दोनों स्वयं को महापुराण घोषित करते हैं। श्रीमद्भागवत की कथा गांव-गांव नगर नगर में होती है जबकि देवी भागवत को कोई पूछता तक नहीं। इसी प्रकार संस्कृत का धार्मिक साहित्य (वैदिक वाङ्मय से भिन्न) साम्प्रदायिक संकीर्णता में उलझा हुआ है। मात्र वेद ही वे ग्रन्थ हैं जिन पर किसी सम्प्रदाय विशेष का ठप्पा नहीं लगा है। हिन्दू धर्म के सभी मत-सम्प्रदायों, धर्माचार्यों, मठाधीशों तथा महामण्डलेश्वरों– इन सबका आदर वेदों को प्राप्त है। जब वेद के किसी भाग को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो अपने सभी पूर्वाग्रहों तथा रूढ़िबद्ध धारणाओं को त्याग कर हम उसके आगे नत-मस्तक होते हैं। यही वेद की सर्व-स्वीकार्यता तथा असाम्प्रदायिकता है।

वेदों की शिक्षाएं नितान्त मानवीय, सार्वभौम, सार्वकालिक तथा देश काल निरपेक्ष हैं। धरती के किसी छोर में बसने वाला मनुष्य तथा किसी काल विशेष का नागरिक वेद की शिक्षाओं को स्वीकार करने में न नु नच नहीं करेगा। वेद मंत्रों में निहित विचार तथा विषय किसी स्थान, देश तथा जाति विशेष को ध्यान में रखकर अस्तित्व में नहीं आये हैं।

उनमें वर्णित उपदेश भी मानव के सर्वांगीण उत्थान की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वे इहलोक और परलोक दोनों की बात करते हैं। व्यक्ति से लेकर राष्ट्र ही नहीं, अपितु समग्र भूमण्डल की कल्याण कामना और हित सिद्धि वेदों का प्रतिपाद्य है। इस कथन को इस प्रकार समझा जा सकता है।

वेदों की सर्वविध प्रासंगिकता

सर्वप्रथम मानव शरीर के सर्वांगीण विकास की बात करें। शरीर के अवयव तथा अंग-प्रत्यंग को स्वस्थ और नीरोग रखना मनुष्य का प्राथमिक कर्त्तव्य बताया गया है—**पश्येम शरदः शतम्** आदि यजुर्वेद की सूक्ति इसी ओर संकेत करती है। शरीर के उपरान्त जब मानव के मन और बुद्धि की बात आती है तो वेद ने मनुष्य के मन को शिव संकल्पों वाला होने पर बल दिया, **तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु**।[10] साथ ही मानवी बुद्धि को देवोपम बनाने की बात कही। हम देवताओं की सुमति से सम्पन्न हों तथा **'वयं देवानां सुमतौ स्याम'**।[11] देवताओं की सुमति में रहें। देवों का सख्य प्राप्त करें और दानवीय वृत्तियों को त्यागें, यह वेदों की सतत कामना रही है। व्यक्ति की उन्नति के पश्चात् परिवार और समूह की उन्नति की बात करें तो माता, पिता, भाई, भगिनी, सखा तथा अन्य परिजनों के प्रति स्वकर्त्तव्य की शिक्षा वेद देते हैं। परिवार की ही भांति सामाजिक सामंजस्य तथा समष्टिगत एक्य को बढ़ाने के स्वर्णिम सूत्र वेदों में यत्र तत्र पाये जाते हैं।

वेद जब धरती को 'माता' कह कर पुकारता है तो वह उसके सम्पूर्ण वैभव तथा उसकी सुरम्य छटा के वर्णन में कोई कृपणता नहीं करता। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त[12] इस बात का प्रमाण है कि किसी देश या क्षेत्र विशेष का नाम लिए बिना वेद सम्पूर्ण धरती को मानव की निवास-स्थली मानता है और यहां के वृक्षों, वनस्पतियों, आरण्यक पशुओं, जीव-जन्तुओं,

नदियों, पर्वतों, विभिन्न ऋतुरंगों, जीव जगत् के सभी संभारों पर उसकी गहरी नज़र पहुंची है। अन्ततः धरतीमाता के उपासक की यह कामना अत्यन्त मनोज्ञ है कि यदि यह धरित्री उसके योगक्षेम की सामग्री जुटाने में कोई कोताही नहीं करती तो कृतज्ञ मनुष्य भी उसके लिए सभी प्रकार की बलियां देने के लिए तत्पर है।

धर्म, दर्शन, नीति व आचार की सर्वोच्च शिक्षा के आकर ग्रंथ-वेद

भारतीय चिन्तन में धर्म को कर्त्तव्य का बोधक तथा मानव के योगक्षेम का वाहक माना गया है। इस दृष्टि से मानव के लिए करणीय कर्मों का प्रावधान वेदों में मिलता है तो दर्शन शास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये सभी सूक्ष्म, स्थूल प्रश्नों का समाधान भी वेदों में पाया जाता है। वेद की दृष्टि में 'यज्ञ' रूपी परोपकार वृत्ति मानव का सर्वोच्च धर्म है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, परलोक, सृष्टिरचना आदि सभी दार्शनिक प्रश्नों की सुगूढ़ मीमांसा वेदों के विभिन्न सूक्तों में पाई जाती है। इस दृष्टि से वेदों में अस्यवामीय सूक्त, नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त आदि विशेष रूप से विचारणीय हैं। वैयक्तिक और समष्टिगत इति कर्त्तव्यों का वेदोक्त विधान निरपवाद रूप में मानव समाज के लिए आचरण के योग्य तथा व्यवहार में लाने लायक है। सभी मानवों को समान बताकर तथा परस्पर बंधु तथा भ्राता का सा दर्ज़ा देकर वेदों ने स्वयं को मानव के सर्वसम्मत धर्मशास्त्र के आसन पर ला बिठाया है।

वेद सर्वोपरि क्यों?

स्वामी दयानन्द ने वेदों को सर्वोपरि प्रमाण और मान्य यदि घोषित किया तो इसके लिए उनके पास सुविचारित तर्क और युक्तियां थीं। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि प्रत्येक वेद मंत्र के प्रतिपाद्य पर सतर्क विचार करने के पश्चात् ही वे यह धारणा बना सके हैं कि इन ग्रन्थों में कोई बात युक्ति,

तर्क, विज्ञान तथा सृष्टि क्रम के प्रतिकूल नहीं है।[13] भारत के धर्माचार्यों और आचार शास्त्रियों को ज्ञान, कर्म और भक्ति (उपासना) का समन्वय इष्ट रहा है। दयानन्द के अनुसार चारों वेदों में यथा प्रसंग ज्ञान, कर्म और उपासना की विवेचना तो है ही, साथ ही ये विज्ञान के आद्य स्रोत भी हैं। इसी कारण वे वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक कहते हैं और प्रत्येक पुरुष के लिए उसके पठन-पाठन को अनिवार्य घोषित करते हैं। वेदों की पुरुषार्थवाद, कर्मवाद तथा लोक–संग्रह प्रधान शिक्षाओं की तुलना में यदि मध्यकालीन पलायनवाद, भाग्यवाद, अकर्मण्यवाद तथा मिथ्या वैराग्यवाद को देखें तो साफ़ समझ में आ जाएगा कि मानव की सार्वत्रिक उन्नति का उपाय वेदों की शिक्षाओं को अपनाना ही है।

निश्चय ही मध्यकालीन भारतीय वेद–भाष्यकारों की कतिपय भ्रान्त धारणाओं तथा पाश्चात्य मनीषियों द्वारा किये गये वैदिक अध्ययन में विद्यमान त्रुटियों और स्खलनों का उत्तर दयानन्द सरस्वती ने अपनी सतर्क शैली में दिया था। यह दूसरी बात है कि अपने पूर्वाग्रहों के कारण वे दयानन्द के वेदवाद का सतत विरोध करते रहे किन्तु समयान्तर में योगी अरविंद तथा कतिपय अन्य वेद व्याख्याकारों ने जिस प्रकार वेदमंत्रों की व्याख्या की उससे दयानन्दीय वेदार्थ की सत्यता की पुष्टि हुई।[14]

स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ के नाम पर प्रचलित यज्ञवाद, विनियोगवाद, मंत्रों के अन र्क होने, वेदों में बहुदेववाद, एक-देवप्रधानवाद, इतिहासवाद आदि की धारणाओं का खण्डन किया तथा मंत्रों में पाये जाने वाली विशुद्ध मानवीयता के संदर्भों को स्पष्ट किया। 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्', 'सर्व भूतेषुचात्मानं ततो न विचिकित्सति', 'सर्वा आशा मम मित्रम् भवन्तु' आदि वैदिक सूक्तियां वेदों

में व्यापक मानवीय भावनाओं की विद्यमानता घोषित करती हैं।

दयानन्द ने तो वेद की 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. 1/164/46) की उक्ति को ध्यान में रखकर वेदों में एकेश्वरवाद की ही पुष्टि की थी, किन्तु यदि वादितोष न्याय से कोई व्यक्ति वेदों में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेकानेक देवताओं की स्तुति को ही मान्य करे तो भी उसे इन वैदिक देवताओं की उदात्तता, महनीयता तथा गरिमा को स्वीकार करना ही पड़ेगा। माना कि पुराणकाल तक आते आते वैदिक देवताआं की चारित्रिक उच्चता का क्षरण हो गया था तथा इन नवीन ग्रन्थों में उनका चरित्र अत्यन्त कुत्सित, लांछना युक्त तथा गर्हणीय दिखाया गया था, तथापि वेदों में इन्द्र तथा अग्नि के जिस गौरव और तेज का वर्णन है, वरुण की जिस सर्वज्ञता, दयालुता तथा न्यायशीलता का उल्लेख हुआ है, सविता द्वारा दुरितों के विनाश तथा भद्रभावना के प्रसार की बात कही गई है, इससे सिद्ध होता है कि वेदों का यह देवतावाद भी मनुष्य को उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर ले जाने में सक्षम है। निश्चय ही वेदों की इसी उदात्त भाव-सम्पत्ति को ध्यान में रखकर स्वामी दयानन्द ने उन्हें मानव जाति का आदर्श धर्मग्रन्थ घोषित किया था।

पाद टिप्पणियां

1. ऋग्वेद संसार के पुस्तकालय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।
   —प्रो. मैक्समूलर
2. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् *—मीमांसा 1/1/18*
   तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् *—वैशेषिक 1/1/3*
   स एषः पूर्वेषामपि कालेनानवच्छेदात् *— योग दर्शन 1/26*
   शास्त्र योनित्वात् *—वेदान्त 1/1/3*

3. एवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितः। *शतपथ 14/5/4/10*
4. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
   एतच्चतुर्विधं प्राहुःसाक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥ 2/12
5. पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षु सनातनम्।
   अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥
6. विस्तार के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रकरण द्रष्टव्य हैं।
7. मूल ग्रन्थ अंग्रेज़ी में "The Fountain Head of Religion" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।
8. विवेकानन्द चरित —*सत्येन्द्रनाथ मजूमदार*
9. यजुर्वेद 36/24
10. यजुर्वेद 34/1-6
11. ऋग्वेद 6/41/5
12. अथर्ववेद काण्ड 12 सूक्त 1
13. भ्रान्ति निवारण (पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न को उत्तर)
14. योगी अरविंद का लेख— 'Veda and Dayanand'

चतुर्थ सूत्र

वैज्ञानिक सोच तथा प्रखर बुद्धिवाद को अपनायें

मनुष्य तथा पशुओं की जैविक प्रक्रियाओं में अधिक अन्तर नहीं हैं। यही कारण है कि प्राणि-विज्ञान का विस्तृत अध्ययन करने से पहले अध्यापक अपने छात्र को मेंढक की शारीरिक प्रक्रियाओं का ज्ञान कराता है। उसका कहना हे कि मानव तथा मेंढक की श्वसन क्रिया, रक्त चालन क्रिया आदि में असाधारण समानता है। इसी तर्क के आधार पर प्राचीन सूक्तिकार ने कहा था कि आहार, निद्रा, भय और सन्तानोत्पादन– ये क्रियायें तो मनुष्य तथा पशुओं में एक सी हैं। यदि दोनों में कुछ अन्तर है तो यही कि मनुष्य में धर्म नामक तत्त्व विशेष है अन्यथा प्राणि-शास्त्रीय दृष्टि से मनुष्य तथा पशु समान ही हैं। ध्यान देने की बात है कि इस सूक्ति में धर्म शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? क्या यह संध्या-वंदन, नमाज़-रोज़ा या एकादशी व्रत और गंगा स्नान जैसे कृत्यों के लिए आया है? शायद नहीं। यहां धर्म का प्रयोग सत्यासत्य, न्याय-अन्याय तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के बीच अन्तर कर उस कार्य के लिए हुआ है जो सत्य से युक्त है, अन्यायाचरण से दूर है, जिसमें किसी व्यक्ति या वर्ग के प्रति लेश मात्र भी पक्षपात नहीं झलकता तथा जो वेद प्रतिपादित सार्वजनिक, नैतिक तथा सदाचारमूलक आचरण को महत्त्व देता है।

यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस धर्म का अन्वेषण तार्किक बुद्धि तथा प्रखर तर्क से ही किया जाता है। सामान्यतया यह देखा जाता है कि मनुष्य गतानुगति का पालन करता है, उसके अग्रजों तथा पूर्वजों ने जैसा कुछ

किया, वह भी बिना सोचे-विचारे उसी पथ पर चलता है। तथापि इसके विपरीत कुछ ऐसे मनस्वी, महोत्साही तथा साहसी पुरुष होते हैं जो अपने लिए नवीन पथों का अनुसंधान करते हैं और मानवता का अपूर्व मार्गदर्शन करते हैं। ऐसे ही नवीन मार्ग के संधानकर्ता युग पुरुष दयानन्द थे। यदि वे चाहते तो अपने पिता की भांति किसी भी लौकिक वृत्ति को अपना कर जीवनयापन कर सकते थे, किन्तु उन्होंने अपने समक्ष प्रस्तुत कुछ दार्शनिक प्रश्नों का समाधान करने, साथ ही पाप, ताप, सन्ताप व शोषण से पीड़ित निखिल मानवता के त्राण के लिए एक नये मार्ग का अनुसंधान किया और राष्ट्र हित एवं लोकहित के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। लोकहित के लिए 'स्व' को होमने वाले पुरुष कम ही हैं।

दयानन्द ने जहां मानव की चिन्तन-शृंखला को नये आयाम दिये हैं, वहां उनके क्रांतिकारी चिन्तन का एक प्रमुख सूत्र बुद्धिवाद तथा मानवी विवेक को अपने कार्य-अकार्य का पथ-निर्देशक बनाना भी था। उनका पदे पदे यह उपदेश रहा कि परमात्मा ने इन्सान को विवेक दिया है, सद्, असद् को पहचानने की शक्ति दी है। उसे पाखण्डों, अंधविश्वासों तथा हानिकर रूढ़ियों से बचकर स्वस्थ, गरिमामय तथा स्वाभिमान युक्त जीवन जीने का सामर्थ्य दिया है। तब वह किसलिए अपनी बुद्धि और विचार शक्ति को ताक पर रख कर अंधानुकरण में प्रवृत्त हो? मध्यकाल के अंधकारमय युग में जब वैदिक ज्ञान की प्रोज्ज्वल प्रकाशधारा अंधविश्वास और अंध श्रद्धा के तिमिर जाल से आच्छन्न हो गई थी, दयानन्द ने प्रत्येक बात को तर्क तुला पर तोलने का आग्रह किया और मनुष्य के विवेक को सर्वोपरि रखा।

मध्यकाल में पनपे तथाकथित भक्तिवाद का यह अभिशाप था कि उसने कर्मण्यता, पुरुषार्थ, तथा संघर्षपूर्ण स्थितियों का सामना करने की अपेक्षा पलायनवाद, भाग्यवाद

तथा यथास्थितिवाद को प्रोत्साहन दिया। इसका स्पष्ट कारण था कि लोगों ने युक्ति एवं तर्क को तिलाजंलि देकर 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का रास्ता अपनाया जबकि पुरातन वैदिक चिन्तन प्रत्येक स्थिति में युक्ति एवं तर्कपूर्वक धर्म के अनुसंधान का समर्थन करता है। यास्क ने निरुक्त में तर्क को ऋषि की संज्ञा दी तथा स्मृतिकार मनु की स्पष्ट घोषणा थी कि जो तर्कपूर्वक धर्म का अनुसंधान करता है, वही धर्म के तत्त्व को जानता है। दयानन्द भी इसी युक्तिवाद तथा तर्कवाद के प्रबल पोषक थे। उनका स्पष्ट कथन है कि धर्म और धार्मिक परम्पराओं की जो बातें युक्ति एवं तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं वे ही मान्य और आचरण के योग्य हैं। इसके विपरीत विज्ञान और सृष्टि क्रम के विरुद्ध मान्यतायें और आचरण कूड़ेदान में फेंकने के योग्य हैं।

बुद्धिवाद और युक्तिवाद अथवा वैज्ञानिक सोच जैसे शब्दों के लिए दयानन्द का मुहावरा है— **सृष्टिक्रम के अनुकूल होना**। उनकी दृष्टि में जो कथन और मान्यताएं सृष्टि के शाश्वत नियमों के अनुकूल हैं, जिन्हें वैज्ञानिक तथ्यों से पुष्ट एवं प्रमाणित किया जा सकता है वे ही मान्य हैं, स्वीकार करने तथा आचरण करने के योग्य हैं। इसी कसौटी को काम में लाकर उन्होंने न केवल प्रचलित हिन्दू धर्म में मान्य पौराणिक देवगाथावाद से सम्बद्ध चमत्कार मूलक, अवैज्ञानिक तथा अविश्वास योग्य विश्वासों, विचारों तथा घटनाओं को ख़ारिज कर दिया अपितु बौद्ध, जैन, ईसाइयत तथा इस्लाम सम्प्रदाय में उल्लिखित विज्ञान विरुद्ध अंध धारणाओं तथा मत-विश्वासों को भी अमान्य ठहराया।

ध्यान रहे कि दयानन्द ने जिसे सृष्टिक्रम के अनुकूल होना बताया था, उसे वर्तमान युग में वैज्ञानिक सोच (Scientific thinking) का नाम दिया गया है। वर्तमान विश्व-सभ्यता को इस बात का गर्व है कि वह विज्ञान के सत्य

को महत्व देती है तथा विश्व मानव में सतर्क चिन्तन तथा विज्ञानाधारित मान्यताओं को अपनाने की वकालत करती है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. नेहरू को चाहे नास्तिक कहें या आस्तिक, एक बात के लिए उनकी प्रशंसा करनी होगी कि वे स्वदेशवासियों में इसी वैज्ञानिक सोच तथा युक्ति सिद्ध तार्किकता को फलता-फूलता देखना चाहते थे। यह दुर्भाग्य रहा कि उनके बाद के राष्ट्रनेता अंधविश्वासों के अंधकूप से न स्वयं को बचा पाये और न जनता का स्वस्थ मार्गदर्शन कर पाये। ऐसे अंध विश्वास ग्रस्त नेता सदा पण्डे पुजारियों, ज्योतिषियों और बाबाओं के जाल में फंसे रहे और मसजिदों, मकबरों, जलाशयों और देवालयों में धक्के खाते रहे। वे ज्योतिषियों के मुहूर्तों तथा मठाधीशों के भविष्यकथनों में विश्वास कर अपनी गद्दी को सुरक्षित समझते रहे।

धार्मिक अंध विश्वासों और तर्क विरुद्ध मान्यताओं का खण्डन करने में दयानन्द ने किसी मत-पंथ, पण्डे पुजारी, मुल्ला-मौलवी या पादरी और धर्माध्यक्ष को नहीं बख्शा। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के आरम्भ से चौदहवें समुल्लास पर्यन्त उनका तर्क कुठार उन सब पाखण्डों, अंध विश्वासों तथा मूढ़ विश्वासों को धराध्वस्त करता चलता है जो मानव के सहज, सरल तथा प्रशस्त जीवन पथ को पदे पदे कण्टकाकीर्ण, विषम, भयावह तथा नरक तुल्य बनाने पर उतारू हैं। स्वामी दयानन्द ने यह ध्यान रखा कि अवैज्ञानिक बातों तथा तर्क विरुद्ध माया जाल को गूंथने में उन पाखण्ड प्रिय लेखकों की भी महती भूमिका रही है जो हमारे महापुरुषों को अवतारों की श्रेणी में लाकर उनके सहज तथा स्वाभाविक जीवन के इर्द गिर्द चमत्कारपूर्ण कथानकों तथा अविश्वसनीय बातों के कुहक का सृजन करते रहे हैं। ऐसे ही अन्य देशीय मत-पंथों के लोगों ने नबियों, पैग़म्बरों तथा कथित देवदूतों को लेकर असम्भव कल्पनाएं की हैं। अधिक दूर क्यों

जायें—भारतीय नवजागरण के शिखर तुल्य परमहंस रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के क्रिया कलापों को भी चमत्कारों तथा अविश्वसनीय कथाओं से ढंक दिया गया है। (द्रष्टव्य—*सत्येन्द्रनाथ मजूमदार लिखित विवेकानन्द चरित*)

आश्चर्य तो यह है कि आज की नवशिक्षित तथा उच्चतर ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त पीढ़ी भी अंध-विश्वासों के दुष्चक्र से स्वयं को उबार नहीं पाई है। तभी तो हम देखते हैं कि जुमेरात (गुरुवार) के दिन पढ़े लिखे डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफ़ैसर तथा तकनीक कुशल वैज्ञानिक फ़कीरों से अपना भाग्य पूछते हैं, शताब्दियों पहले भूमिस्थ हुए औलियाओं और फ़कीरों से आशीर्वाद की याचना करते हैं। कैथोलिक रस्मोरिवाज में पली बढ़ी नेत्रियां चुनाव में सफलता की चाहना को लेकर कुम्भ के अवसर पर गंगा में गोता लगाती हैं। पुष्कर तीर्थ और गुजरात की अम्बा माता के मंदिर में सिर नवाती हैं, किसी फ़कीर की दरगाह में सिज़दा करती हैं जिसके जीवन और इतिहास का उन्हें कोई अता पता नहीं होता। ऐसे में स्वामी दयानन्द द्वारा उपदिष्ट बुद्धिवाद तथा विवेक का पाठ क्या सम्पूर्णतया प्रासंगिक नहीं है?

पाद टिप्पणियां

1. आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः॥
—*भर्तृहरि नीतिशतक*

2. तुलनीय— जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत पालन और पक्षपात रहित न्याय, सर्वहित करता है जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित है और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक मानने योग्य है, उसको धर्म कहते हैं। आर्योद्देश्यरत्नमाला

3. आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मवेद नेतरः॥ —*मनु. 12/106*

पंचम सूत्र

दयानन्द ने पुरुषार्थवाद, कर्मण्यता व संघर्ष की बात कही

स्वामी दयानन्द ने वैदिक शिक्षाओं का जो निचोड़ निकाला वह यही था कि मनुष्य को जीवनपर्यन्त पुरुषार्थ करना है। साहस, धैर्य और संगठित प्रयत्नों के द्वारा उसे अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करना है। वेदों में उन्हें कहीं भी भाग्यवाद, अकर्मण्यता तथा पुरुषार्थहीनता के संदर्भ नहीं मिले। उन्होंने यजुर्वेद की इस शिक्षा को स्वयं तो आत्मसात किया ही था कि कर्मशील होकर मनुष्य को सौ वर्ष पर्यन्त पुरुषार्थयुक्त जीवन व्यतीत करना है,[1] साथ ही वे अपने देशवासियों और अनुयाइयों के लिए भी इसी कर्ममय जीवन को जीने का उपेदश देते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसंग में चरैवेति चरैवेति का उपदेश आता है।[2] मनुष्य दृढ़ इच्छाशक्ति वाला होकर निरन्तर आगे बढ़ता रहे, यही पूर्ववर्ती आचार्यों और ऋषियों की शिक्षा थी। आर्य संस्कृति में पुरुषार्थ–चतुष्टय का जो आदर्श प्रत्येक मनुष्य के समक्ष रखा गया था उसका अभिप्राय भी अनवरत आगे बढ़कर सांसारिक उन्नति के पश्चात् मानव के सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना था। इसी भावना से जीवन को चार आश्रमों में विभक्त कर सम्यक् उन्नति के साथ उसे अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाना था। रघुवंशी राजाओं की जीवनचर्या को महाकवि कालिदास ने इस प्रकार निरूपित किया है–

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयेषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनूत्यजाम्॥ *(रघुवंश)*

रघुवंशी राजकुमारों का बाल्यकाल विद्याभ्यास में व्यतीत होता है। युवावस्था में सांसारिक कर्त्तव्य पालन में उनका समय व्यतीत होता है। अब जब वृद्धावस्था आती है तो वे मुनियों की सी वृत्ति धारण कर योग वृत्ति धारण कर लेते हैं। समाधि पूर्वक जीवन का त्याग कर देते हैं। इस व्यस्त जीवनचर्या में आलस्य, कर्म त्याग तथा मिथ्या वैराग्य के लिए कहीं भी स्थान नहीं है।

तथापि हमारे देश में पुरुषार्थहीनता और पलायनवाद का एक त्रासपूर्ण युग आया था। निश्चय ही महाभारत युग के भीषण अन्त ने तथा उसके मारक प्रभाव ने समस्त देश में निराशा, अवसाद तथा मानसिक यंत्रणा का वातावरण बनाया था, तथापि तत्कालीन कर्मयोगी कृष्ण के स्फूर्तिदायक मंत्र को यदि हमने याद रखा होता तो हमारी वह दुर्दशा नहीं होती जो बौद्ध कालीन युग के अन्त से आरम्भ होकर मुसलमानी आक्रमणों तथा उसके बाद के सात सौ वर्षों के पराभव और दासता के काल तक चलती रही। कृष्ण ने हमें कर्मण्यता का पाठ पढ़ाया था। उनका कहना था— **युद्धायकृतनिश्चयः तया क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ नैततयुपपद्यते।** हमें युद्ध के लिए सन्नद्ध होना है और आततायियों का नाश कना है। जिस अर्जुन ने दीनता या पलायन का नाम तक नहीं जाना था उसके लिए कृष्ण का उपदेश था— तू क्लीवता को प्राप्त मत हो। यह जनानापन तुझे शोभा नहीं देता।

आशा, उमंग और उत्साह की ऐसी शिक्षाओं के होने पर भी हमारे देश में पराजय, कुण्ठा और हीन भावना का जो विषम ज्वर फैला, उसके कारणों की मीमांसा करें तो हमारे तत्कालीन जीवन दर्शन की कुछ न्यूनताएं ही उजागर होती हैं। प्रथम, शंकराचार्य ने वेदान्त की जो एकांगी शिक्षा प्रस्तुत

की उससे देशवासियों में संसार को मिथ्या, स्वप्न तुल्य, रज्जु में सर्प की भांति काल्पनिक तथा गंधर्व नगर की सृष्टि की भांति नश्वर मानने की प्रवृत्ति बढ़ी।

शंकराचार्य का पूरा प्रयास कर्म सिद्धान्त का निराकरण कर उसके स्थान पर ज्ञान को प्रतिष्ठित करना था।[3] यह भी एक विचित्र विरोधाभास था कि जिन शंकर ने प्रस्थानत्रयी की अपनी व्याख्यामूलक रचनाओं में पदे पदे कर्म सिद्धान्त का खण्डन किया, वे स्वयं अपने जीवन में महान कर्मशील, सतत पुरुषार्थ रत तथा वैदिक धर्म को पुनः सम्मान दिलाने के लिए यत्नशील रहे। तथापि यह विडम्बना ही थी कि शंकर के अनुयायी दार्शनिकों, साधु-महात्माओं तथा त्यागी-वैरागी सन्त-महन्तों ने निष्क्रियता तथा कर्त्तव्य विमुखता को अपना जीवन दर्शन बना लिया। दार्शनिक प्रश्नों पर तो गम्भीर ऊहापोह होता रहा किन्तु किसी धर्माचार्य या धर्मप्रवक्ता ने देश की दुर्दशा की ओर लोगों का ध्यान नहीं खींचा और न उससे बचने का उपाय सुझाया।

स्वामी दयानन्द के जीवन एवं विचारों की गम्भीर मीमांसा करने वाले देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने ठीक लिखा है कि यद्यपि आचार्य शंकर ने अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा सुतीक्ष्ण तर्क शैली से ब्रह्मैक्यवाद तथा जगन्मिथ्यावाद को स्थापित करने की पुरज़ोर कोशिश की, किन्तु क्या उन्होंने नाना जातियों में विभक्त और विशृंखलित भारत को सुदृढ़ करने के लिए देशवासियों को पुरुषार्थ का महामंत्र दिया, कदचित नहीं। इसी प्रकार भगवन्नाम संकीर्तन के द्वारा आब्राह्मण-चाण्डाल पर्यन्त हिन्दू समाज को स्पृश्यास्पृश्य भाव से पृथक् रहने का उपदेश देने वाले गौरांग देव (चैतन्य) ने भी पराधीन भारत की दासता की लौह शृंखलाओं को तोड़ने के लिए पराक्रम और पुरुषार्थ का शंख नहीं फूंका।[4]

भारतवासियों को भाग्यवाद की विषैली सीख देने में कुछ अन्य मतों की भूमिका भी कम नहीं रही। भगवान् बुद्ध ने तो **'सर्वं दुःखम्'** का पाठ पढ़ा कर पहले ही अपने अनुयायियों को वैराग्य पथ पर चल पड़ने का उपदेश दिया था। जैनों और बौद्धों की अवैदिक श्रमण परम्पराओं का ही परिणाम था कि विदेशी आक्रमणों के समक्ष भारतवासी लगातार परास्त, पराभूत तथा पादाक्रान्त होते रहे। नतीज़ा सामने था। सारी धरती को इस्लाम की शिक्षाओं से आपूरित करने की लालसा रखने वाले जिहादियों ने सहस्रों भिक्षुओं के गले काटे, उनके ग्रन्थालयों, विहारों तथा विद्यालयों को नष्ट किया। पुस्तकों को जलाकर हमाम गरम किये। इस दुर्दशा का कारण इहलोक की उपेक्षा कर जीवन के लिए मात्र त्याग और वैराग्य की एकांतिक शिक्षा को अपनाना ही था। श्रमण परम्परा ने वसिष्ठ और विश्वामित्र, परशुराम, द्रोणाचार्य, चाणक्य और समर्थ रामदास की उस विचारधारा का उपहास किया था जो आततायी शत्रु को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ तथा अप्रतिम कर्मवाद का पाठ पढाती है।[5]

कोढ में खाज की स्थिति मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन ने उपस्थित कर दी। यद्यपि भक्तिकाल के आराध्य राम और कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन पुरुषार्थ, पराक्रम तथा दानवदलन का प्रत्यक्ष उदाहरण था किन्तु इनके अबोध अनुयायियों ने इन महापुरुषों के पुरुषार्थमय जीवन से कोई शिक्षा नहीं ली। रामाश्रयी शाखा के भक्तों ने एकान्ततः भाग्यवाद तथा अकर्मणता का प्रचार किया–

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

यही इनका सिद्धान्त था कि भगवन्नाम जप से न केवल

भव पाश से मुक्ति मिलती है हमारे सांसारिक प्रश्नों का भी समाधान हो जाता है। किन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक थी। उधर कृष्णभक्त कवियों और भक्तों ने गोपी जन वधूटी दुकूल चौराग्रगण्य रासेश्वर, मुरलीधर कृष्ण को अपना आदर्श बनाया।[6] वे उस कृष्ण को भूल गये जिसकी नीतिमत्ता और राजनीतिचातुर्य ने कंस, जरासंध, दन्तवक्र, शिशुपाल तथा दुर्योधन जैसे अत्याचारी, मानव जाति को पीड़ित करने वाले दुष्टों से धात्रि की रक्षा हुई थी। निश्चय ही भक्ति आन्दोलन की यह परिणति दुखद थी जबकि राम तथा कृष्ण जैसे दुर्धर्ष वीरों के तथाकथित अनुयायी अत्याचारी शासकों के मुखापेक्षी बन गये और गुलामी के तौक को स्वेच्छा से गले का हार बनाये रखा।

ऐसी विषम परिस्थिति में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ, साहस और कर्मण्यता की बात करना भीषण उत्ताप में शीतल जल वर्षण के तुल्य था। उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र पुरुषार्थ की प्रशंसा की तथा प्रारब्ध पर निर्भर रहने को निंदित बताया। स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश में वे लिखते हैं– "पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।" आर्योद्देश्यरत्नमाला में भी यही भाव व्यक्त किये गये हैं। "पुरुषार्थ अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर और वाणी से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसी को पुरुषार्थ कहते हैं।" व्यवहारभानु में जब यह प्रश्न किया गया कि पुरुषार्थ किसको कहते हैं और उसके कितने भेद हैं? तो इसके उत्तर में महाराज ने लिखा उद्योग का नाम पुरुषार्थ और उसके चार भेद हैं। एक अप्राप्त की इच्छा, दूसरा प्राप्त की यथावत् रक्षा। तीसरा रक्षित की वृद्धि और चौथा

बढ़ाए हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना।

इस प्रकार अपने ग्रन्थों में ऋषि दयानन्द ने पुरुषार्थ को भाग्य से प्रबल बताया और न केवल उपदेश से अपितु अपने कर्मठ जीवन से लोगों को भाग्यवाद और पलायन के जाल में न फंसकर उद्योग और कर्मशीलता अपनाने के लिए कहा। उन्हें इस बात का दुःख था कि आज भारत में साधु-संन्यासियों के नाम पर एक ऐसी जमात पैदा हो गई है जो समाज के लिए बोझ हैं, परावलम्बन ही जिनकी ज़िन्दगी का उसूल है, भीख मांग कर पेट भरना और कुछ न करना जिनकी नियति है। वार्तालाप के एक प्रसंग में तो उन्होंने साफ़ कहा कि इन लाखों नामधारी साधुओं को मेहनत मज़दूरी के काम में लगाना चाहिए ताकि वे परिश्रम का जीवन जियें।

भाग्यवाद को प्रश्रय मिला फलित ज्योतिष के अंधविश्वास से

यदि भाग्यवाद और अकर्मण्यता के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज की जाये तो अनेक ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण भारतीय मानस में आलस्य, परलोकवाद, कर्म विमुखता तथा साहसहीनता के भाव पनपे हैं। इनमें सर्वोपरि फलित ज्योतिष का अंधविश्वास है। बालक के जन्म के तुरंत पश्चात उसका जन्मपत्र बनाने की आलोचना करते हुए ऋषि ने इस जन्मपत्र को शोक पत्र कहा और स्पष्ट किया कि कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। फलित ज्योतिष के अंध विश्वास ने मीडिया के बहुविध प्रसार के साथ साथ नये नये आयाम ग्रहण कर लिए हैं। साठ-सत्तर वर्ष पूर्व यह स्थिति नहीं थी। न तो पत्र-पत्रिकाओं में वर्षफल छपते थे और न साप्ताहिक राशिफल पढ़ने की कोई ललक पाठकों में थी। आज पत्रों के अलावा दूरदर्शन का कोई ऐसा चैनल नहीं है जो अपने द्वारा प्रचारित किये जाने वाले ज्योतिष का आडम्बर करने वाले पाखण्डियों से भविष्य कथन न

कहलवाता हो। जोधपुर के पाखण्ड प्रसारक धूर्त नारायणदत्त श्रीमाली के दुनिया से कूच कर जाने के बाद उसकी ठग-विद्या कुशल सन्तानों ने अपने पाखण्ड जाल को और बढ़ा दिया है। हमें नहीं लगता कि ज्योतिष के इस पाखण्ड से दरा[illegible]यों को शीघ्र मुक्ति मिलेगी। जन साधारण ही नहीं, पढ़े लिखे प्रबुद्ध [illegible] भी पाखण्डी ज्योतिषियों और तांत्रिकों के जाल से स्वयं को नहा[illegible] पाते। ऐसा मिथ्या भविष्य कथन करने वालों तथा आगत के बा[illegible]ें पूर्व घोषणा करने वालों ने मध्यकाल के राजाओं को किस प्रकार [illegible] उन्हें परकीयों की गुलामी स्वीकार करने के लिए मज़बूर किया तथा देश को पराधीनता के कूप में ढकेला, इसका एक रोचक दृष्टान्त ऋषि दयानन्द ने दिया है।

जब किसी स्वदेशी राजा पर विदेशी हमलावर ने सेना लेकर चढ़ाई की तो अंधविश्वासी राजा के दरबारी एकत्र हो गये। उन्होंने राजा को सेना सजाकर आक्रमणकारी का मुकाबला करने से विरत किया। एक तेली सामन्त ने कहा, महाराज अभी जल्दी क्या है, तेल देखो, तेल की धार देखो। बाद में सेना सजाना। एक ऊंट वाले ने कहा, महाराज इतनी जल्दी क्या है, ऊंट किस करवट बैठता है, यह देखना चाहिए। उधर ज्योतिषी ने तो मुहूर्त निकालने का पाखण्ड फैलाया और दिशाशूल, दुष्ट मुहूर्त आदि का भय दिलाया। नतीज़ा सामने तब आया जब वह राजा शत्रु सैन्य से पराजित हुआ। भारत के दुर्भाग्य, अभाग्योदय तथा पराधीनता की यह क्रूर कहानी इतिहास के रक्त रंजित पृष्ठों में यत्र तत्र सर्वत्र मिलती है। इसी दुर्दशा को देखकर ऋषि दयानन्द का करुणार्द्र हृदय क्रन्दन कर उठा था—**"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने**

की तो कथा ही क्या, किन्तु आर्यावर्त में भी, आर्यों का अखण्ड, चक्रवर्ती, स्वतंत्र, स्वाधीन राज्य इस समय नहीं है।[8]

पाद टिप्पणियां

1. यजुर्वेद 40/2
   कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
   एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
2. यहां कहा गया है कि त्रेता युग की शयनावस्था कलियुग है, अंगड़ाई लेना द्वापर है खड़ा होना द्वापर है तो चलने की तत्परता त्रेता है। जबकि निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ना कृत युग है। अतः चलो, चलो, चलते रहो। चरैवेति, चरैवेति।
3. शंकराचार्य के दर्शन का यह विचित्र विरोधाभास है कि वेदों के कर्म प्रतिपादक मंत्रों (यजुर्वेद अध्याय 40 का कुर्वन्नेवेह कर्माणि आदि मंत्र) का अर्थ करते हुए उन्होंने मंत्र के मूल आशय के विपरीत उसका कर्म निषेध परक अर्थ किया।
4. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरितः भूमिका—आर्यसाहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित प्रथमावृत्ति 1933 ई.
5. श्रमण विचारधारा द्वारा घोषित पलायनवाद के विरोध में वैदिक विचारधारा के पुरुषार्थवाद की प्रकर्षता को नाटककार जयशंकर प्रसाद ने स्वरचित नाटक चन्द्रगुप्त में प्रखर शैली में प्रस्तुत किया है।
6. कृष्णचरित के मार्मिक समीक्षक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने असिधर तथा सुदर्शनचक्रधारी कृष्ण को मुरलीधर के वेश में चित्रित किये जाने की कटु आलोचना की है।
7. सत्यार्थप्रकाश—*द्वितीय समुल्लास*।
8. सत्यार्थप्रकाश—*अष्टम समुल्लास*।

षष्ठ सूत्र

महर्षि दयानन्द ने धर्म को सामाजिक हित का साधक बताया

धर्म को लेकर भारतीय शास्त्रों में बहुविध चिन्तन तथा ऊहापोह हुआ है। संस्कृत भाषा का यह शब्द मूलतः धारणा का बोधक है। जो हमारे लिए धारण करने योग्य है अथवा जिससे हमारा अस्तित्व सुरक्षित रहता है, वही धर्म है। महाभारतकार ने धर्म को प्रजा का धारण करने वाला तत्त्व कहा[1] तो वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद ने धर्म उसे कहा जिससे हमारे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) तथा निःश्रेयस–पारलौकिक उन्नति (मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य-मोक्ष) की सिद्धि होती है।[2] मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध को दश लक्षणात्मक धर्म कहा[3] तो ऋषि दयानन्द ने इसमें अहिंसा को प्रथम स्थान देकर ग्यारह लक्षण वाले धर्म को मान्य किया।[4] धर्म की वैज्ञानिक अथवा तार्किक परिभाषा प्रस्तुत करने वाले चिन्तकों ने वस्तु के सहज स्वभाव और उसकी सामान्य प्रवृत्ति को धर्म कहा[5] तो मीमांसकों ने यज्ञ पर ज़ोर देने के कारण वेद प्रतिपादित कर्त्तव्यकर्मों को धर्म की संज्ञा दी। सच पूछें तो 'धर्म' शब्द सभी भारतीय मत-सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य है, चाहे वे उसकी परिभाषाएं भिन्न-भिन रीतियों से देते हैं। इस दृष्टि से जैन-बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, सिख, सन्त-मतानुयायी निर्गुण भक्त, राम तथा कृष्णादि विष्णु के कथित उपासक भक्तिमत के आचार्यगण तथा आधुनिक सुधारवादी ब्रह्मसमाजी, प्रार्थनासमाजी तथा

रामकृष्ण मिशन के वेदान्तवादी, सभी को 'धर्म' शब्द समान रूप से स्वीकार्य हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने अनेक ग्रन्थों में धर्म तथा उसकी परिभाषा एवं लक्षणों का उल्लेख किया है। सत्यार्थप्रकाश के अन्त में लिखे स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकरण में वे पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त, ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्धता को धर्म कहते हैं। लगभग यही बात आर्योद्देश्यरत्नमाला में कही गई है। इतना विशेष है कि स्वामी दयानन्द यहां पक्षपात रहित न्याय, सर्वहित तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त को धर्म कहते हैं। व्यवहारभानु में वे न्यायाचरण और सबकी भलाई को धर्म की संज्ञा देते हैं। जब 8 जुलाई 1875 को पुणे में उन्होंने धर्माधर्म विषय पर अपने विचार रखे तो कहा– "परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म, निषेध यह अधर्म, सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म।[6] इस प्रकार सूत्रों में उन्होंने धर्म की व्याख्या की।

मुम्बई में संस्कृत के प्रोफेसर मोनियर विलियम्स के पूछने पर उन्होंने धर्म की निम्न परिभाषा दी थी, जो सत्य और न्याय से युक्त है तथा पक्षपात रहित हैं, वह धर्म है। इस धर्म का ज्ञान उनके अनुसार इन्द्रियों से तो होता ही है इसके अतिरिक्त तर्क तथा वेदाज्ञा से भी होता है।[7] ऐसा कह कर स्वामी दयानन्द ने आचार्य मनु तथा महर्षि जैमिनि के धर्म विषयक मत को स्वीकार कर लिया। जहां मनु ने तर्क से धर्म का अनुसंधान करने की बात कही वहां जैमिनि ने वेदाज्ञा को धर्म बताया। कालान्तर में भागवत पुराण के रचयिता ने भी वेदानुकूल को धर्म तथा वेद से विपरीत को अधर्म बताया। **वेद प्रणिहितो धर्मः अधर्मस्तद्विपर्ययः।**[8]

स्वामी दयानन्द के अनुसार धर्म में सामाजिक तथा

वैयक्तिक कर्त्तव्यों का समुचित समावेश होता है। जहां व्यक्ति के अपने आचरणीय धर्म (पंच महायज्ञों का आचरण, वर्णाश्रम व्यवस्था का समुचित पालन आदि) हैं वहां समाज का एक प्रबुद्ध घटक होने के कारण वे सामाजिक धर्म की भी चर्चा करते हैं। इस समष्टि धर्म को वे **सर्वतंत्र सिद्धान्त** अर्थात् **साम्राज्य सार्वजनिक धर्म** कहते हैं। उनके अनुसार इसे सब मानते आये हैं, मानते हैं, और मानेंगे भी। इसलिए स्वामी दयानन्द इसे शाश्वत नित्य धर्म कहते हैं जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।[9]

वस्तुतः महाभारतोत्तर काल से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शती तक भारत में धर्म के नाम पर जो आन्दोलन होते रहे उनमें व्यक्ति के उत्थान और सुधार पर ही अत्यधिक बल दिया गया था। यदि इन आन्दोलनों को धर्म का नाम दिया जाये तो यह भी कहना होगा कि इन धर्म प्रवर्त्तकों ने जितना व्यक्ति के सुधार पर बल दिया, उस अनुपात में सामाजिक व्यवस्था को सुधारने तथा समष्टि के व्यापक हित पर बल नहीं दिया। जैन तथा बौद्ध मत वैदिक धर्म में आई कतिपय विकृतियों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुए थे। वैदिक यज्ञयागों में आई अत्यन्त स्थूलता तथा उसके परिणाम रूप में मिलने वाले भौतिक सुखों के आश्वासनों ने जन साधारण को जब इन कर्मों के प्रति विरक्त कर दिया तो यह स्वाभाविक था कि वैराग्य प्रधान तथा त्याग को चरम लक्ष्य मानने वाले श्रमण धर्मों का अभ्युदय होता। इन श्रमण धर्मों में सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन आदि जो नैतिक उपदेश दिये गये थे वे मूलतः वैदिक धर्म से ही लिए गए थे। निश्चय ही जैन-बौद्ध आदि की आचार विषयक नैतिक शिक्षाओं का मूल स्रोत मनु के उपदेश, पातंजल दर्शन का अष्टांग मार्ग तथा गीता की मूलभूत नैतिक शिक्षाओं में पाया जाता है।

बुद्ध ने 'अप्पदीपो भव' स्वयं अपने दीपक बनो और स्वकल्याण के पथ का अनुसंधान स्वयं ही करो, का उपदेश देकर व्यक्ति की उन्नति पर जोर दिया। उन्होंने समाज या राष्ट्र के उत्थान की कोई चिन्ता नहीं की। परिणाम तब सामने आया जब प्रसारवादी इस्लाम के हमले भारत में स्थापित बौद्ध मठों और विहारों को धूलिसात करने में सफल हुए। बौद्ध भिक्षुओं के तो गले काटे ही गये, क्षात्र धर्म के विपरीत भिक्खु वृत्ति अपनाने वाले राजकुमारों तक को अपने क्षात्रजनोजित कर्त्तव्यों से विमुख होने का कटु फल भोगना पड़ा। निश्चय ही कथित बौद्ध तथा जैन धर्म में वैयक्तिक उत्थान के तत्त्वों को तो जुटाया गया था किन्तु उसमें समष्टि हित के कार्यक्रमों का नितान्त अभाव था।

भक्ति आन्दोलन की एकान्तिक मानसिकता और उसके दुष्परिणाम

शत्रुओं के दलन रूपी क्षात्र धर्म की अवहेलना का कड़वा फल जैसे बौद्ध, जैनादि को भोगना पड़ा वही दशा वैष्णव भक्ति आन्दोलन की भी हुई। यह एक विडम्बना ही थी कि भक्ति मतानुयायियों ने अपना आदर्श तो राम, कृष्ण आदि क्षात्र धर्म के पुरस्कर्त्ता उन महापुरुषों (जिन्हें वे अवतार की संज्ञा देते थे) को बनाया जिन्होंने स्वजीवन में धर्म के रक्षण तथा अधर्म के विनाश में अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ और शक्ति लगाई थी किन्तु उनके अनुयायी इन भक्तजनों ने मात्र हरिनाम स्मरण तथा भगवन्नाम संकीर्तन को ही अपने जीवन का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य बना लिया। परिणाम स्पष्ट था—भुजा उठा कर अत्याचारी राक्षसों से धरित्री का त्राण करने की प्रतिज्ञा[10] करने वाले अप्रतिम शौर्य की प्रतिमा राम के वीरता एवं पौरुष युक्त चरित्र को भुलाकर राम नाम का स्मरण करना तथा

गीता प्रेस के आदेश से नोट बुकों में हज़ारों लाखों राम नाम लिखना ही इन रामभक्तों का पुरुषार्थ रह गया। कृष्ण भक्ति के रसिक सम्प्रदाय ने तो अपने आराध्य और उपास्य की और अधिक दुर्दशा की। सुदर्शनचक्र धारी कृष्ण को विस्मृति के किसी गूढ गर्त में ज़मींदोज़ कर दिया गया और उनके स्थान पर राधा के कुचाग्र से क्रीड़ा करने वाले, गोपियों के यौवन मद का मर्दन करने वाले तथा गोप वधूटियों के दुकूलों को चुराकर बटवृक्षासीन हो जाने वाले कृष्ण का कीर्तन किया जाने लगा।[11] यादवाग्रगण्य कृष्ण ने जिस प्रकार अपने समसामयिक धार्मिक राजाओं को एकता के सूत्र में पिरोकर अत्याचारी जरासंध, कंस, दुर्योधनादि आततायियों का विनाश किया था और युद्ध को क्षत्रिय के लिए स्वर्ग का खुला द्वार घोषित किया था उस नीतिज्ञ कृष्ण के द्वारा उपदिष्ट गीता के उन वचनों की उपेक्षा की गई जो अत्याचार, अन्याय और पाप की समाप्ति के लिए सामूहिक कदम उठाने के लिए कहते थे। गीतगोविन्द में वर्णित विष्णु को कमला-कुच मण्डन में तत्पर साथ ही भव खण्डन में सक्षम तो बताया किन्तु ये वैष्णव भक्त इस तथ्य को भूल गये कि कृष्ण की यह एकान्तिक भक्ति उनके स्वराज्य तथा स्वाधिकारों की रक्षा में सक्षम नहीं है। कारण स्पष्ट है। इन आचार्यों ने एकान्तिक धर्म पर बल दिया किन्तु समष्टिहित तथा सार्वजनिक हानिलाभ से विमुख रहे।

नवजागरण काल में रामकृष्ण परमहंस ने जो वेदान्त का लच्छेदार शैली में निरूपण किया उसमें भी सामाजिक दायित्व या समाज के हित किंवा उद्‌बोधन का लेश मात्र भी नहीं था। यह अच्छा रहा कि उनके प्रबुद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने युग की मांग को समझा तथा भारतीय समाज को सचेत कर उसे समष्टिगत कर्त्तव्यों के प्रति सावधान किया

तथा समाज को संगठित होने तथा शक्तिमान् बनने की प्रेरणा दी।

स्वामी दयानन्द का समष्टि धर्म

स्वामी दयानन्द का धर्म चिन्तन सर्वग्राही तथा सर्वांगीण था। उन्होंने जहां मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति की बात कही, वहां उसे समष्टि हित के लिए काम करने के लिए भी कहा। वस्तुतः उन्होंने वेदों की उस शिक्षा को अपना आदर्श बनाया था जो ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त के शब्दों में सबको एक साथ चलने (प्रगति के मार्ग में बढ़ने), एक सी बोली बोलने (वाणी तथा अभिव्यक्ति में एकता) तथा अपने मनों को एक सी भावोर्मियों में प्रवाहित होने के लिए कहते हैं।[12] मंत्र का कथन है कि पूर्वकाल के देवजनों ने अपने सामूहिक प्रयत्नों से जो सफलता प्राप्त की थी वह आज भी समष्टि हित के आचरण से सम्भव है। मानवजाति का समष्टिगत धर्म एक है, इसलिए उसे अपने विचारों, संकल्पों प्रेरणाओं में एकता रखनी है। यहां तक कि पारस्परिक विचार-विमर्श के लिए उसकी सभाएं और समितियों में भी एकता और सहमति के संवाद का स्वर गूंजे। कदाचित विसंवादी स्वरों को प्रोत्साहन न मिले। यह सामाजिक एकता दिखावा मात्र न रहे किन्तु सच्ची हो, हार्दिक हो, हृदय के अन्तस्तल से निकले।

स्वामी दयानन्द ने इसी समष्टिगत धर्म को व्यावहारिक रूप देने तथा स्वदेश हित के कार्यक्रमों में देशवासियों को जोड़ने के लिए देश के आर्थिक उत्थान के लिए आवश्यक गोरक्षा पर बल दिया। समस्त भारत देश को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए राष्ट्र की सम्पर्क भाषा के रूप में आर्यभाषा (हिन्दी) को अपनाने के लिए कहा तथा अपने एक पत्र में इन दो कार्यक्रमों की सफलता को देशोत्थान का मूलमंत्र बताया।

सर्वसंग परित्यागी परमहंस दयानन्द ने अपने आराध्य परमात्मा के पूजन और अर्चन में भी समष्टि भावना को एक क्षण के लिए भी नहीं भुलाया। स्तुति प्रार्थना परक अपने भक्तिभावापन्न ग्रन्थ **'आर्याभिविनय'** में जब वे अपने परमाराध्य के प्रति विनय करते हैं, तो उससे आर्यों के लिए चक्रवर्ती राज्य की कामना करते हैं, भक्तों को चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य प्रदान करने के लिए याचना करते हैं। वयंजयेम मंत्र (ऋ. 1/7/14/4) की व्याख्या में परमेश्वर से निवेदन करते हैं कि वह अपने भक्तों को चक्रवर्ती राज्य तथा साम्राज्य धन प्राप्त कराये। 'बृहद्वदेम विदथे सुवीराः' (ऋ. 2/8/12/3) इस सूक्ति की व्याख्या में महाराज लिखते हैं कि हम परमात्मा के बड़े अखण्ड साम्राज्य को भोगें। ध्यान रहे कि दयानन्द निज के लिए कुछ नहीं मांगते। उनकी याचना का विषय है **हम आर्यों का अखण्ड चक्रवर्ती राज्य समस्त भूमण्डल में हो तथा हम भारतवासी कभी पराधीन न हों**। वस्तुतः इसी व्यापक हित को लक्ष्य में रखकर उन्होंने आर्यसमाज के तीसरे नियम में संसार के उपकार को इस समाज का लक्ष्य घोषित किया था। वैयक्तिक संध्योपासना आदि पंच यज्ञों को व्यक्तिपरक धर्म बताने के साथ साथ उन्होंने आर्यसमाजों के साप्ताहिक सत्संगों में जाने तथा आर्यसमाज के नेतृत्व में लोकोपकार के विविध कार्यक्रमों को संचालित करने में आर्यों की भागीदारी सुनिश्चित की थी। यह दूसरी बात है कि दयानन्द के अनुयायी अपने आचार्य द्वारा उपदिष्ट सामाजिक धर्म का निर्वाह किस सीमा तक कर पाये हैं।

पाद टिप्पणियां

1. धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः। *महाभारत*
2. यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः। *वैशेषिक दर्शन 1/1/2*

3. धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्याः सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ *मनु. 4/92*
4. उपदेशमंजरी : 8 जुलाई 1875 को पुणे में प्रदत्त व्याख्यान।
5. वस्तु स्वभावो धर्मः
6. उपदेश मंजरी का तीसरा धर्माधर्म शीर्षक व्याख्यान।
7. प्रो मोनियार विलियम्स का Brahmanism and Hinduism शीर्षक ग्रन्थः संस्करण 1891, पृष्ठ 529-530
8. श्रीमद्भागवत (6/1/40) *गीता प्रेस गोरखपुर का संस्करण*
9. सत्यार्थप्रकाशः स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश
10. निशिचर रहित करौं महि भुज उठाय प्रन कीन।
11. नूतन जलधररुचये गोपवधूटी दुकूल चौराय।
तस्मै कृष्णाय *नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय*।
कारिकावली– *न्याय शास्त्र का एक नवीन ग्रन्थः मंगलश्लोक*
12. 'श्रित कमलाकुचमण्डनं भवखण्डन हे' आदि गीत गोविन्द के वाक्य
13. ऋग्वेद मण्डल 10 सूक्त 191 मंत्र 1-4

सप्तम सूत्र

स्वामी दयानन्द के लिए सर्वधर्म समभाव तथा सर्वधर्म समन्वय जैसे चालू मुहावरे अर्थहीन थे

आज के सार्वजनिक जीवन में सर्व धर्म समभाव, सब धर्मों के प्रति आदर रखना जैसे मुहावरे बहुतायत से चल पड़े हैं। सच पूछा जाये तो ये शब्द समूह बिना गहराई से विचार किये प्रयुक्त किये जाते हैं। 'धर्म' जैसे व्यापक अर्थवत्ता वाले शब्द को हमने मत, सम्प्रदाय, पंथ, तथा मज़हब का पर्याय बना दिया, जबकि सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म एक है और वह है 'मानवता'। जिस प्रकार पशु का स्वभाव उसमें पाई जाने वाली पाशविकता है उसी प्रकार मनुष्य का सहज, स्वाभाविक धर्म उसमें पाये जाने वाले वे गुण हैं जो उसे मानवता की परिधि में लाते हैं। स्वामी दयानन्द ने वर्षों पूर्व इस गुत्थी को सुलझा दिया था और स्पष्ट किया था कि हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी आदि को धर्म का नाम देना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में एक जिज्ञासु का दृष्टान्त देकर उन्होंने स्पष्ट किया कि धर्म के जो मूल तत्त्व हैं वे सब मतानुयायियों को मान्य होने से मानव मात्र का समान धर्म कहलायेंगे। इस प्रकार उन्होंने सत्यभाषण, विद्या प्राप्ति, ब्रह्मचर्य पालन, सत्संग, पुरुषार्थ तथा सत्य व्यवहार को मानव का समान धर्म बताया जबकि अन्य बातों में जो परस्पर भिन्न है उसे मनुष्य का शाश्वत या सहज धर्म नहीं कहा।

जब मानव मात्र का धर्म एक ही है और मनु प्रोक्त धर्म के दस लक्षणों को स्वीकार करने में किसी भी मतावलम्बी को कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि मनु प्रोक्त यह दस लक्षणों वाला

धर्म मनुष्य की नैतिकता, उसकी आचारगत पवित्रता तथा उसमें विद्यमान दया, करुणा, मैत्री, विश्वबंधुत्व आदि दैवी भावों को जगाने की शक्ति रखता है, तो प्रश्न होता है कि अन्ततः मनुष्यों ने स्वयं को मत-मज़हब, सम्प्रदाय तथा फ़िर्कों में बांट कर अनावश्यक खेमाबंदी क्यों कर ली है? इसका सहज उत्तर है नैतिकता और सदाचार के मूल्यों को सर्व सम्मत धर्म मानने के उपरान्त भी विभिन्न देशों में परमतत्त्व परमात्मा की पूजा-उपासना के भिन्न-भिन्न तौर-तरीक़े ईज़ाद किये गये उसी प्रकार आचार-विचार, शौच-अशौच तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक कर्मकाण्ड में पृथकता आती गई। यही कारण है कि भारत में वैदिक धर्म के ह्रास के उपरान्त जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि लोकायत मत पैदा हुए और इनके बाद में शैव, वैष्णव, शाक्त, वाम मार्ग, निर्गुण-सगुण भक्ति के सम्प्रदाय आदि मत-पन्थ पैदा होते रहे। उधर ईरान में जरथुस्त्र ने पारसी मत का प्रवर्तन किया तो मध्य एशिया की सैमेटिक जातियों में पैग़म्बरों की शिक्षाओं पर आधारित सामी मज़हबों का प्रादुर्भाव हुआ। यहूदी, ईसाई और इस्लाम एक ही स्रोत से निकले मज़हब हैं। इनके मान्य पैग़म्बर तथा इनकी मान्य पुस्तकें (तौरेत, बाइबिल और कुरान) में व्यक्त विचारों में प्रायः समानता लक्षित होती है किन्तु देश, काल, परिस्थितिजन्य अन्तर भी पाया जाता है। वस्तुतः भूमण्डल का निवासी मानव समुदाय जितना विविधतापूर्ण है, उसके मान्य मत-मज़हब और पन्थ भी उतनी ही विविधता लिए हैं।

तब प्रश्न होता है कि धार्मिक आस्थाओं, दार्शनिक मान्यताओं आचारगत विविधताओं तथा कर्मकाण्ड की बहुविध जटिलताओं के रहते क्या इस विविधता वाली मानवजाति का एक दूसरे के साथ अविरोध भाव से रहना सम्भव है? स्वामी दयानन्द इसका उत्तर देते हैं कि यह सम्भव है। हम अपने मत-विश्वासों को लेकर विचार परिवर्तन करें, परस्पर

विचार विमर्श करें, शास्त्रार्थ तथा शास्त्रालाप भी करें। तत्पश्चात् किसी सर्व मान्य निर्णय पर आयें। कदाचित विचार विभिन्नता के कारण सहमति न भी हो तो भी हमारे वैयक्तिक सम्बन्धों में किसी प्रकार की कटुता तथा शत्रुता के भाव न आयें। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन में, मौलवियों, पादरियों, पण्डे पुजारियों आदि से अनेक शास्त्रार्थ किये किन्तु उनमें कहीं भी कटुता नहीं आई। बरेली के पादरी डॉ. टी. जे. स्काट उनके भक्त बने, लाहौर के डॉ. रहीम ख़ां ने उनका आतिथ्य किया। मुस्लिम जागरण के अग्रदूत सर सैय्यद अहमद उन्हें सम्मान देते रहे तथा परस्पर विचार-विमर्श करते रहे। थियोसोफ़िस्टों ने उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। ये और ऐसे अनेक प्रसंग इस बात के साक्षी हैं कि कोई भी मनुष्य मत-मज़हब को लेकर अपनी निजी आस्थाओं को सुरक्षित रखते हुए अन्य मतावलम्बी के प्रेम तथा सम्मान का पात्र बन सकता है।

आज का राजनैतिक मुहावरा–रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति

इस विवेचन की प्रस्तावना में हमने स्पष्ट कर दिया था कि जब मनुष्य मात्र का धर्म एक है तो सर्व धर्म समभाव या सर्वधर्म समन्वय जैसे पाखण्डपूर्ण, अर्थहीन मुहावरे गढ़ने का कोई लाभ नहीं है। सर्वधर्म समभाव का नारा लगाने वाले ये पाखण्डी पुरुष वेद गीता, कुरान, बाइबिल और गुरुग्रन्थ को एक ही श्रेणी में रखते हैं तथा उनको समान तत्त्वों का बखान करने वाले ग्रन्थ बताते हैं। सच्चाई तो यह है कि इन बड़बोले, बेसमझ व्यक्तियों ने न तो वेद और गीता को पढ़ा और न इन्हें बाइबिल और कुरान के वर्ण्य विषयों का ज्ञान है।[2] यदि तटस्थ दृष्टि से कोई विभिन्न मत पन्थों (इन्हें आप चाहें तो धर्मग्रन्थ कह लें) के मान्य ग्रन्थों का जिज्ञासु भाव से अध्ययन करें तो वह उनके विषयों की विशिष्टताओं को समझ सकेगा। तब उसे पता चलेगा कि वेद मानव जाति

के आदिम धर्म ग्रन्थ हैं जिनमें धर्म, दर्शन, आचार और कर्त्तव्याकर्त्तव्य की शिक्षाएं हैं। गीता में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त नीति, सदाचार, ईश्वरोपासना आदि का विवेचन हुआ है। बाइबिल ईसा मसीह के शिष्यों द्वारा संकलित वे प्रसंग हैं जो ईसा मसीह के जीवन, शिक्षाओं तथा उनके क्रिया कलाप का विवरण देते हैं। पैग़म्बर मोहम्मद द्वारा अपने समय के संदर्भ में अरबी समुदाय के लिए दिये गये आदेशों और उपदेशों के संकलन के अतिरिक्त कुरान में मुसलमानों के वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के लिए आदिष्ट नियमों तथा हुक्मनामों का संग्रह है। गुरुग्रन्थ में गुरु नानक के अतिरिक्त अन्य सन्तों के वचनों और उपदेशों का संग्रह है।

इस प्रकार प्रत्येक ग्रन्थ की अपनी अपनी विशिष्टता है। अधिकांश मत-पन्थों के मान्य ग्रन्थ देश काल सापेक्ष हैं जबकि वेदों और उपनिषदों में उल्लिखित दार्शनिक तथ्य सार्वकालिक तथा सबको स्वीकार्य हैं। अतः 'सब धान बाइस पसेरी' का अनुकरण कर सब मत-पुस्तकों को एक श्रेणी में रखना न्याय्य नहीं है। जो लोग सर्व धर्म (पन्थ) समभाव की बात करते हैं, वे भी पाखण्ड और छलावे की बात करते हैं। मत पन्थों के आचार-विचार, क्रिया-कलाप परस्पर विरुद्ध तथा एक दूसरे की आस्थाओं को आघात पहुंचाने वाले होते हैं। अतः उन सबके प्रति समान रूप से सम्मान व आदर का भाव रखना आत्मवंचना है, खुद को धोखा देना है। जिस जैन धर्म में एक मच्छर को मारना भी पाप समझा जाता है वह जैनी, बकरीद के दिन हज़ारों बेकसूर जानवरों को मारने वाले मुसलमान के लिए क्या कहेगा? क्या एक जैन मुनि इस रक्त ताण्डव को सहज भाव से देख सकेगा? मद्य मांस, मैथुन, आदि को मोक्ष का कारण मानने वाले वाममार्गी कापालिक की संगति उस वैष्णव भक्त से कैसे बैठेगी जो अहिंसा, दया तथा सदाचार का उपासक है। दिखावे के लिए तो आज

के धूर्त राजनीतिज्ञ ईद की नमाज़ में मुसलमानों के साथ शरीक होने का आडम्बर करते हैं किन्तु क्या एक सच्चा मुसलमान किसी बुतखाने (मंदिर) में जाकर मूर्ति को सिज़दा करेगा, कदाचित नहीं। कारण स्पष्ट है। सच्चा मुसलमान अल्लाह को लाशरीक (अद्वितीय) मानता है। उसके तुल्य और उसकी भांति वंदनीय उसकी दृष्टि में और कोई नहीं है। इसलिए 'गंगा गये गंगादास जमना गये जमना दास' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले तथा सर्वधर्म समभाव की दुहाई देने वाले निश्चय ही पाखण्डी हैं। मत-मतान्तरों और मज़हबों के अकीदे इतने दमघोंटू हैं कि कोई स्वतंत्रचेता पुरुष वहां उन्मुक्त भाव से सांस नहीं ले सकता। गांधी जी ने चाहे इस्लाम का कितना ही स्तुति पाठ किया, उसकी महिमा के गीत गाये किन्तु मौलाना मोहम्मद अली जैसे मतान्ध की दृष्टि में एक पापी और दुराचारी मुसलमान गांधी से श्रेष्ठ था, केवल इसलिए कि वह खुदा और उसके रसूल पर ईमान रखता था।

यही कारण था कि स्वामी दयानन्द ने लोगों को यथार्थवादी दृष्टि से देखने के लिए कहा। इस्लाम की अपनी सीमाएं हैं। मौलाना आज़ाद तथा उनकी श्रेणी के अन्य उदारवादी मुसलमान कुरान के वाक्यों की मनोनुकूल व्याख्याएं करें तथा उनसे विश्वबंधुत्व तथा विश्वमैत्री के नुस्खे निकालें किन्तु वे इस्लाम के उन व्याख्याकारों को कदापि मान्य नहीं होंगी जिनकी यह धारणा है कि कुरान में जो बंधुत्व भाव का उपदेश है वह केवल मोमिनों-इस्लाम में विश्वास लाने वालों के लिए है। इस्लाम को न मानने वाले काफ़िरों के लिए तो दोज़ख़ की आग ही है जिसमें उन्हें जलना है। इस सच्चाई को कोई स्पष्ट (Bluntly) रूप से कहता है तो कोई इसे छिपाकर अन्य प्रकार से कहता है। हमारा अभिप्राय किसी मत या समुदाय विशेष पर टिप्पणी करना नहीं है। हम तो ऋषि दयानन्द के इस सत्य कथन को तारस्वर से उद्घोषित करना चाहते

हैं कि धर्म भिन्न है जबकि मत, मज़हब, पन्थ और सैक्ट (Sect) भिन्न हैं। इन सबकी अपनी अपनी सीमाएं हैं। कोई व्यक्ति अपने विश्वास तथा आस्था के अनुसार यथेच्छ माने किन्तु इस ढकोसले से दूर रहे कि हमारी नज़र में सारे मत-पन्थ एक से हैं। सारे धर्म ग्रन्थ समान रूप से हमें मान्य हैं। मत-पन्थों के मान्य ग्रन्थों में कितना सत्यासत्य है, कितना औचित्यानौचित्य है यह तो नीरक्षीर विवेक में सक्षम पुरुष ही बता सकता है। इस दृष्टि से दयानन्द के इस कथन की तीखी तथा कड़वी सच्चाई से हमें रूबरू होना पड़ेगा कि सर्व मत समभाव तथा सबका समन्वय करना मात्र शब्दाडम्बर है। राम और रावण को एक साथ आशीर्वाद नहीं दिया जा सकता।

पाद टिप्पणियां

1. स्वामी दयानन्द के अन्य मतावलम्बियों से व्यक्तिगत स्नेह सम्बन्धों की विस्तृत जानकारी के लिए इसी लेखक का ग्रन्थ **'ऋषि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी'** द्रष्टव्य है।
2. वेदों में यदि ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान की विवेचना है तो गीता में ज्ञान योग, कर्म योग तथा भक्ति योग का संवाद शैली में विश्लेषण किया गया है। बाइबिल और कुरान आदि सैमेटिक मज़हबी ग्रन्थों की लेखन शैली नितान्त भिन्न प्रकार की है। इन ग्रन्थों में दार्शनिक विवेचन तो नाम मात्र का है किन्तु मध्य एशिया तथा अरब देशों की सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में तत्कालीन जातियों के पारिवारिक तथा कबीलाई जीवन के नियम बताये गये हैं। पैग़म्बरवाद का आरम्भ और विकास इन सैमेटिक मत के ग्रन्थों में दिखाई देता है। आदम, मूसा, ईसा तथा मोहम्मद आदि खुदा (परमात्मा) द्वारा प्रेषित दूतों के जीवन एवं क्रिया कलाप इन ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित हुए हैं।

अष्टम सूत्र
धर्म तथा विज्ञान अविरोधी हैं

स्वामी दयानन्द की यह ध्रुव धारणा थी कि प्राचीन भारत में विज्ञान की विविध शाखाओं में तत्कालीन आर्यों ने यथेष्ठ उन्नति की थी तथा भौतिक तथा सामाजिक ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में उनका ज्ञान तथा उपलब्धियां श्लाघा के योग्य थीं। सत्यार्थप्रकाश के 11वें समुल्लास में उन्होंने युद्ध के समय प्रयोग में आने वाले आग्नेयास्त्रादि अस्त्र-शस्त्रों की चर्चा की है तथा उस युग की युद्ध विद्या की एक झलक प्रस्तुत की है। काशी तथा अन्यत्र जयपुर के महाराजा जयसिंह द्वारा बनवाये गये ज्योतिष के यंत्रों की भी चर्चा उन्होंने की तथा पुरातन खगोल विद्या में आर्यों के विस्तृत ज्ञान का उल्लेख किया। प्राचीन भारत में विज्ञान कितना बढ़ा-चढ़ा था तथा विभिन्न विषयों की मीमांसा करने वाला संस्कृत भाषा में प्राप्त साहित्य कितना समृद्ध था, यह एक पृथक् विषय है जिस पर विस्तार से चर्चा की जा सकती है। महाराजा रामचन्द्र द्वारा प्रयुक्त पुष्पक विमान को लोग चाहे कथा-कहानी ही समझें किन्तु ऋषि भारद्वाज कृत विमानशास्त्र तथा स्वामी ब्रह्ममुनि द्वारा सम्पादित बृहद् विमानशास्त्र के अवलोकन से यह धारणा पुष्ट होती है कि अति प्राचीन कालीन भारत में आकाशमार्ग से गमनागमन कोई अनजानी बात नहीं थी। प्राचीन काल के भारतीय ज्ञान विज्ञान की विस्तृत जानकारी के लिए हरविलास शारदा का ग्रन्थ 'हिन्दू सुपीरियोरिटी' आज भी प्रासंगिक है।[1] उन्होंने बिना कोई अत्युक्ति किये भारत के पुरातन ज्ञान-विज्ञान की विशद रूपरेखा इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की है।

यहां एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतीय इतिहास, आर्यधर्म तथा यहां की परम्परा में जहां विज्ञान के तथ्यों का सदा स्वागत किया गया, विभिन्न विषयों के ज्ञाता लेखकों, शोध कर्ताओं तथा चिन्तकों को प्रोत्साहित किया गया, वहां अन्य देशों में उत्पन्न तथा प्रचार पाये मत-मज़हबों ने विज्ञान में कही गई सच्चाईयों का तिरस्कार किया। वैज्ञानिकों तथा पदार्थ विद्या में नवीन शोध करने वालों को दण्डित किया गया, केवल इसीलिए कि इनके मत विषयक ग्रन्थों में जो बातें जीवन और जगत् को लेकर लिखी गई थीं वे अंधविश्वासों तथा मूढ़ धारणाओं पर आधारित प्रायः कल्पनाश्रित थीं। यहां बाइबिल, कुरान तथा सैमेटिक मज़हबों के अन्य ग्रन्थों में वर्णित ऐसे अंधविश्वास पूर्ण उल्लेखों की चर्चा भी अनपेक्षित है[2] क्योंकि विज्ञान ने जिन तथ्यों को सुनिर्धारित किया है उनसे इन ग्रन्थों में पाये जाने वाले अंधविश्वास पूर्ण कथनों का कोई मेल नहीं है। पोप जैसे धर्माधिकारी ने मध्यकाल के उन वैज्ञानिकों का उत्पीड़न किया जिन्होंने वैज्ञानिक सच्चाइयों को सप्रमाण प्रस्तुत कर बाइबिल वर्णित भूगोल, खगोल तथा ज्योतिष विषयक मूर्खतापूर्ण उल्लेखों को हास्यास्पद बताया था। ब्रूनो, कूपरनिकस तथा गैलीलियो जैसे ज्योतिर्विदों, खगोल-शास्त्रियों तथा विज्ञानवेत्ताओं को पादरियों की धर्मान्धता का शिकार होकर कैसे कैसे अत्याचार सहने पड़े, इसकी व्यथा-कथा यथाप्रसंग विस्तार से कही गई है। मतान्ध लोगों ने वैज्ञानिकों का सदा उत्पीड़न किया।

स्वामी दयानन्द के चिन्तन की यह मौलिक विशेषता थी कि अन्य धर्माचार्यों तथा सम्प्रदाय प्रवर्त्तकों की भांति उन्होंने विज्ञान की उपेक्षा नहीं की। उनकी दृष्टि में धर्म और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान के द्वारा हम अपने परिपार्श्व में विद्यमान जीवन और जगत् के सभी पक्षों का

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं तो धर्म के द्वारा अपनी आत्मा को श्रेय के मार्ग पर चलाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। स्वामी दयानन्द ने आज प्रयोग में आने वाले विज्ञान (Science) के लिए **'पदार्थ विद्या'** शब्द का प्रयोग किया है। यह ध्यान रहे कि ऋषि दयानन्द के युग में विज्ञान का अध्ययन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। यूरोप तथा अन्य पश्चिमी देशों में भौतिकी, रसायन, गणित, प्राणि विज्ञान, भूविज्ञान आदि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक स्तर पर पर्याप्त काम हो रहा था। रेल, तार, विद्युत, सिविल इंजीनियरिंग आदि क्षेत्रों में आशातीत कार्य हो रहा था। विज्ञान के इन आविष्कारों तथा उपलब्धियों ने मानव जीवन में सुख-सुविधा के नये आयाम उपस्थित किये थे। वस्त्र निर्माण में मशीनों के प्रयोग ने यूरोप में अभूतपूर्व क्रांति को जन्म दिया था। इसे इतिहास ने **'औद्योगिक क्रांति'** का नाम दिया है। भारत में भी यूरोप का यह ज्ञान-विज्ञान धीरे-धीरे अपने पांव पसार रहा था। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। रुड़की में थाम्सन इंजीनियरिंग स्कूल (बाद में कालेज तथा विश्वविद्यालय के रूप में विकसित) की स्थापना ने नहरों के निर्माण, सिंचाई में उन्नति तथा भूमि की पैमाइश आदि के नवीन क्षेत्रों में आने के लिए छात्रों को प्रोत्साहित किया। ऋषि दयानन्द के जीवन चरित में आता है कि रुड़की में प्रदत्त अपने व्याख्यानों में उन्होंने चार्ल्स डार्विन के विकासवाद की चर्चा ही नहीं की उसकी अयथार्थता पर भी प्रकाश डाला। विकासवाद मूलतः जीव के विकास तथा मानव पूर्व की विभिन्न योनियों की क्रमागत उत्पत्ति से सम्बद्ध है। प्रायः सभी मत-सम्प्रदायों के ग्रन्थों में सृष्टि रचना, विभिन्न जीवों की उत्पत्ति आदि की चर्चा हुई है किन्तु कतिपय धर्मग्रन्थों को छोड़कर अधिकांश

में इन विषयों के विवेचन में कल्पनापूर्ण वाणी विलास ही दिखाई देता है। पुराणों में वर्णित सृष्टि रचना के प्रसंगों में कहीं भी संगति, सुसम्बद्धता तथा तार्किक विवेचन नहीं मिलता। कुरान, बाइबिल आदि सभी मज़हबी ग्रन्थों में तो ये विषय सर्वथा अवैज्ञानिक, युक्ति विरुद्ध तथा हास्यास्पद रूप में लिखे गये हैं। स्वामी दयानन्द ने यथा प्रसंग इनकी आलोचना अपने ग्रन्थों में की है।

आधुनिक पदार्थ विद्यां में स्वामी दयानन्द की रुचि तथा उनकी गहरी जानकारी का परिचय रुड़की के श्रोताओं को तब मिला जब उनके द्वारा सूर्य और पृथ्वी का भ्रमण, अमेरिका महाद्वीप विषयक अनुसंधान, मेघ, भूकम्प आदि के कारण धातुओं और विभिन्न रसायनों में होने वाले परिवर्तनों के विषय में पूछे गये प्रश्नों का उन्हें सन्तोषजनक उत्तर मिला।[3] यह ज्ञातव्य है कि सम्बन्धित शंकाओं का उत्तर स्वामी दयानन्द ने संस्कृत ग्रन्थों में पाये गये उल्लेखों के आधार पर दिया था क्योंकि उनकी जानकारी के स्रोत यही ग्रन्थ थे। जब न्यूटन द्वारा प्रवर्तित पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की चर्चा चली तो स्वामी जी ने वेदमंत्र प्रस्तुत कर इस सिद्धान्त का वेदोक्त होना प्रतिपादित किया।[4] उनका सारा जोर इस तथ्य के प्रतिपादन में था कि वर्तमान विज्ञान के मौलिक तत्त्वों से भारतीय ऋषि-मुनियों का अपरिचय नहीं था।

समय समय पर यूरोप में होने वाली विज्ञान तथा तकनीक की प्रगति से स्वामी जी सुपरिचित थे। उनकी यह हार्दिक कामना थी कि भारत के युवाओं को यूरोप के जर्मनी आदि उन देशों में भेजा जाये, जहां वे उन्नत कला कौशल में दक्षता प्राप्त करें तथा स्वदेश लौट कर अपनी योग्यता, कार्यकुशलता तथा क्षमता के द्वारा इस देश को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनायें। एतदर्थ उनका जर्मनी के एक शिक्षा-

शास्त्री डॉ. वीज से विस्तृत पत्राचार हुआ था। इस जर्मन शिक्षा शास्त्री ने उन्हें आश्वस्त किया था कि यदि इस योजना के तहत भारत से प्रशिक्षणार्थी युवक जर्मनी आते हैं तो वह उनकी पूरी व्यवस्था करेगा ताकि वहां रहकर वे नाना प्रकार के कलाकौशल में दक्षता प्राप्त करेंगे।[5] कतिपय कारणों से इस योजना में व्यवधान उपस्थित हो गया और स्वामी जी का यह स्वप्न अधूरा रह गया।

स्वामी दयानन्द का चिन्तन यथार्थता पर आधारित था। वे उन विचारकों तथा दार्शनिकों से सहमत नहीं थे जो मध्य-कालीन अंधविश्वासों तथा बुद्धि विरुद्ध धारणाओं की आलंकारिक व्याख्या कर उन्हें येन केन प्रकारेण सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करते थे। पुराणों में प्रस्तुत देवगाथावाद (Mythology) तथा अन्य प्रकार की मिथ्या उक्तियों को उन्होंने कल्पित युक्तियों और रहस्यमयता का आवरण चढ़ा कर प्रस्तुत किये जाने वाले हेत्वाभासों और मिथ्या शब्द जाल के द्वारा सत्य सिद्ध करने को कभी स्वीकार नहीं किया। वे विज्ञान और अंधविश्वास में छत्तीस का सम्बन्ध मानते थे। इसलिए उनको यही अभीष्ट था कि धर्म और विज्ञान की साथ साथ उन्नति हो। विज्ञान को धर्माचरण में बाधक नहीं माना जाये। दोनों को अन्योन्याश्रित मानकर हम अपनी सर्वांगीण उन्नति करें।

पाद टिप्पणियां

1. इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन 1906 में हुआ था। इसका हिन्दी अनुवाद पं. रघुनाथप्रसाद पाठक ने किया था जो धारावाहिक रूप से सार्वदेशिक (मासिक) में छपा था।
2. अमेरिका में प्रकाशित (Self Contradictions of the Bible) "हिन्दी में अनुवाद" बाइबिल के परस्पर विरोध" तथा इसी श्रेणी के अनेक ग्रन्थों में बाइबिल वर्णित धारणाओं का खण्डन किया गया है।

3. रुड़की में प्रदत्त व्याख्यानों में स्वामी जी के श्रोता समुदाय में इंजीनियरिंग के अनेक छात्र उपस्थित रहते थे जो उनसे नूतन विज्ञान तथा पदार्थ विद्या विषयक जिज्ञासाएं करते थे।
4. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामी दयानन्द ने वेद मंत्रों के प्रमाण देकर पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को सिद्ध किया है।
5. स्वामी दयानन्द को लिखे इस जर्मन शिक्षा शास्त्री के पत्रों का अनुवाद इन पंक्तियों के लेखक ने किया है जो वेदवाणी के दयानन्द अंक में प्रकाशित हुआ था।
6. स्वामी दयानन्द धर्म में पनपे पाखण्डों और अंधविश्वासों की आलंकारिक व्याख्या कर उन्हें औचित्यपूर्ण ठहराने के विरुद्ध थे। वे To call spade a pade के पक्षपाती थे।

नवम सूत्र

खण्डन-मण्डन से विरक्ति क्यों?

बुद्धिशील और विचारवान प्राणी होने के कारण मनुष्य के चिन्तन में विभिन्नता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहा भी है– **मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना**। प्रत्येक व्यक्ति के सोचने और विचारने में भिन्नता होना स्वाभाविक है। विशेष रूप से धर्म, दर्शन तथा आस्था के क्षेत्र में सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक धर्माचार्य तथा दार्शनिकगण स्वतंत्र रूप से अपने विचार व्यक्त करते आये हैं। भारतीय वैदिक परम्परा को देखें तो विदित होता है कि यहां सदा ही प्रश्नोत्तर, शंका समाधान तथा विचार विमर्श को महत्त्व मिला है। वेदों में ऐसे मंत्र पाये जाते हैं जिनमें प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग कर अनेक जिज्ञासाओं का सुचारु समाधान किया गया है।[1] ब्राह्मणों और उपनिषदों के युग में परस्पर विचार विनिमय तथा शंका समाधानपूर्वक अध्यात्म एवं दर्शन के गूढ़ प्रश्न सुलझाये जाते थे। राजर्षि जनक तथा याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के संवादों से ये ग्रन्थ भरे पड़े हैं।[2] इन शास्त्र चर्चाओं में केवल पुरुष ही भाग लेते हों, ऐसा नहीं था। गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा आदि ब्रह्मवादिनी नारियों के शास्त्र चर्चा तथा सुगूढ़ प्रश्नोत्तरों में भाग लेने के अनेक प्रमाण इन ग्रन्थों में मिलते हैं।

कालान्तर में जब महाभारतोत्तर काल में वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर जैन, बौद्ध तथा चार्वाक आदि अवैदिक लोकायत तथा श्रमण मतों का प्रचलन हुआ तो पारस्परिक खण्डन-मण्डन, वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क का माहौल निरन्तर गरमाता रहा। चन्द्रकीर्ति और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिकों ने वैदिक आस्थाओं पर कटुतम प्रहार किये

तो उदयनाचार्य जैसे आस्तिक ईश्वरवादी नैयायिक ने वेदेतर सम्प्रदायों के अनीश्वरवाद का तीव्र खण्डन किया।[3] चार्वाक द्वारा वैदिक दर्शन और ब्राह्मण धर्मानुमोदित आचार-विचार पर तीखे प्रहार हुए।[4] यह सब आलोचना-प्रत्यालोचना निर्बाध चलती रही।

तुरन्त बाद जब शंकर तथा कुमारिल आदि वेदमतानुयायी दार्शनिकों ने वेदान्त तथा मीमांसा के माध्यम से वैदिक धर्म की पुनः स्थापना का प्रयास किया तो इन आचार्यों ने श्रमण मतों की आस्थाओं पर तो प्रहार किया ही, तत्कालीन सम्प्रदायों को भी अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया जो वेदों और उपनिषदों की ब्रह्मवादी विचारधारा का त्याग कर नाना देवी-देवताओं, राम-कृष्णादि अवतार पुरुषों तथा शिव, विष्णु, देवी, सूर्य, गणेश आदि साम्प्रदायिक देवी-देवताओं की आराधना के विविध मार्गों को अपना कर भारत की परम्परागत धार्मिक एकता को विघटित करने के लिए यत्नशील थे। व्यापक हिन्दू धर्म से स्वयं को पृथक् सम्प्रदाय तथा मत कहने वाले ये उपासक समूह भी शंकराचार्य की आलोचना के पात्र बने। धार्मिक तर्क-वितर्क तथा खण्डन-मण्डन का यह सारा विवरण माधवाचार्य कृत शंकरदिग्विजय के विभिन्न अध्यायों में विस्तार से चर्चित हुआ है।[5]

सम्प्रदायों पर आधारित यह खण्डन मण्डन केवल धर्म तथा पूजा-उपासना के क्षेत्र में ही प्रतिफलित नहीं हुआ, अपितु दर्शन-सम्प्रदायों में भी पारस्परिक तर्क-वितर्क तथा एक दूसरे की मान्यताओं पर टीका टिप्पणी करने के रूप में दीख पड़ा। आचार्य शंकर तथा उनके अनुयायी अद्वैतवादी लेखकों ने विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवाद के भेदवादी दर्शन को अपने कटाक्षों का लक्ष्य बनाया। इसी प्रकार रामानुज तथा मध्व आदि भक्ति सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने अद्वैतवाद पर प्रहार किये तथा

भगवद् भक्ति का मूल द्वैत भावना को ठहराते हुए श्रीमद्भागवत, गीता, विष्णु पुराण आदि वैष्णव धर्म ग्रन्थों को प्राधान्य दिया। दर्शन के क्षेत्र में खण्डन-मण्डन की यह प्रवृत्ति यहीं बंद नहीं हुई। अद्वैतवादियों ने सांख्य-वैशेषिक की परम्परा को भी नकार दिया। यहां तक कि साधना पक्ष को महत्व देने वाला पातंजल योगदर्शन भी उनकी कटूक्तियों से नहीं बचा।[6] भारत के मध्यकालीन दर्शन सम्प्रदायों का यह पारस्परिक खण्डन-मण्डन जहां मताग्रह तथा भावावेशपूर्वक स्वमत की पुष्टि तथा परमत का निराकरण करने के लिए सन्नद्ध दिखाई पड़ता है, वहां वाचस्पति मिश्र जैसे कुछ दार्शनिक ऐसे भी थे जो अपने बुद्धि कौशल तथा रचना चातुरी का प्रयोग सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त आदि प्रायः सभी वैदिक दर्शनों की पुष्टि में ग्रन्थ रचना के लिए करते थे।[7]

प्रायः यह माना जाता कि कट्टर ज्ञानवादी शंकर की विचारधारा के प्रत्याख्यान में ही भक्ति मतों का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभ ने दक्षिणापथ में पुराणाश्रित वैष्णव भक्ति के विविध रूपों का प्रचार किया[8] तो बंगाल में चैतन्यदेव ने भगवन्नाम संकीर्तन को महत्व देकर आब्राह्मण-चाण्डाल पर्यन्त मानवों को विष्णु भक्ति की पावन धारा में निमज्जित होकर भवबंधनों से मुक्त होने की प्रेरणा दी। उधर अद्वैतवाद, इस्लामी एकेश्वरवाद तथा सूफ़ियों की प्रेमा भक्ति का सम्मिलित प्रभाव निर्गुणवादी सन्तों पर दिखाई दिया। नानक, दादू, कबीर, रैदास आदि ने उपनिषद् प्रतिपादित निर्गुण, अगोचर, इन्द्रियादि बाह्य साधनों से अगम्य एक ईश्वर को नाम स्मरण तथा सदाचार के साधन अपनाकर अनुभव में लाने की बात कही। इन निर्गुण पन्थी सन्तों ने साकारवाद तथा मूर्तिपूजा, अवतार, तीर्थ, एकादशी आदि व्रत, बाह्य कर्मकाण्डों को महत्त्व देने आदि का प्रबल

खण्डन किया तथा हिन्दू मुसलमान का भेद किये बिना दोनों मतवालों के पाखण्ड, ढोंग तथा मिथ्या विश्वासों पर कठोरतम प्रहार किया। बदले में साकारवादी भक्तों ने भी निर्गुणवाद को कोसने में कोई कसर नहीं रखी। गोस्वामी तुलसीदास जैसे सहिष्णु तथा समन्वयशील सन्त ने भी अलख (अलक्ष्य) ईश्वर को देखने वाले निर्गुण पन्थी को नीच ही नहीं कहा, उसे राम के नाम का जप करने का उपदेश दे डाला– **तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच।**

ऐसी स्थिति में प्रज्ञाचक्षु सूरदास कब पीछे रहने वाले थे। उन्होंने कृष्णकथा में 'भ्रमरगीत' के आख्यान की अवतारणा कर गोपियों के मुख से निर्गुणवाद के बखिये उधेड़े। कभी वे कहती हैं– 'निर्गुन कौन देस को बासी' तो कभी भ्रमर के व्याज से अपने प्रिय की लम्पट प्रवृत्ति को दर्शाती हैं। कृष्ण भक्त कवियों द्वारा रचित इस भ्रमरगीत काव्य के भी विभिन्न आयाम हैं। हिन्दी के सूरदास, नन्ददास, सत्यनारायण कविरत्न तथा जगन्नाथदास रत्नाकर– इन सभी कवियों ने अपने अपने ढंग से निर्गुणवाद पर कटाक्ष किये हैं।

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा हम यह दिखाना चाहते हैं कि धार्मिक विचार विमर्श तथा तत्वनिरूपण एवं शास्त्र विचार में परस्पर खण्डन-मण्डन, युक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा शंका समाधान तथा प्रबल तर्कों द्वारा स्वमत का पोषण कोई अपराध नहीं है। यह कोई ऐसी बात भी नहीं है जो दयानन्द में पहली बार देखी गई हो। बुद्ध और महावीर से लेकर आधुनिक काल के स्वामी विवेकानन्द तक के धर्माचार्यों ने सतर्क होकर स्वमत का पोषण तथा परकीय मत का खण्डन किया है। जो लोग धार्मिक खण्डन-मण्डन जैसे अपराध(?) का भांडा अकेले दयनन्द के माथे पर फोड़ कर अन्यों को महा सहिष्णु तथा दूध का धोया सिद्ध करना चाहते हैं उनके आज्ञानान्धकार

से निमीलित चक्षुओं को खोलने के लिए निम्न पंक्तियां लिखना आवश्यक है।

भारत के नवजागरण के अग्रदूत तथा नवीन ज्ञानालोक से भारतीय दिक्ति को सर्वप्रथम आलोकित करने वाले युग पुरुष राममोहन राय ने खण्डन का अपना कुठार दो दिशाओं में चलाया। वेद-उपनिषद् प्रतिपादित एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मसूत्र के प्रबल पैरोकार राममोहन राय ने पुराण प्रतिपादित मूर्तिपूजा तथा अवतार के सिद्धान्त का यदि प्रबल प्रतिवाद किया तो तत्कालीन शासकों के द्वारा मान्य ईसाई मत की दुर्बलताओं को सामने लाने में भी वे पीछे नहीं रहे। उन्होंने ईसाइयत के मूल आधार त्रित्ववाद (Trinity) (पिता, पुत्र, पवित्रात्मा) का खण्डन किया तथा हिन्दुओं के मूर्तिपूजा तथा अवतार आदि पर प्रहार करने वाले पादरियों को चेतावनी देकर कहा कि कांच के घरों में रहने वालों को यह अधिकार नहीं मिलता कि वे पत्थरों के घरों में रहने वालों पर प्रहार करें। ईसा के जीवन से जुड़े मिथ्या चमत्कारों को मानने वाले तथा खुदा को कबूतर के रूप में अवतरित होने को मान्य करने वाले पादरियों को क्या अधिकार है कि वे हिन्दू पुराणों में वर्णित चमत्कारों तथा अवतारों से जुड़े अलौकिक प्रसंगों की आलोचना करें। ईसाइयों की पुराण गाथाएं भी गप्पें हाँकने में कम नहीं हैं।

धार्मिक सहिष्णुता तथा सब धर्मों में पाये जाने वाले विश्वासों में अपनी आस्था दर्शाने वाले परमहंस रामकृष्ण ने साधु-स्वभाव ब्राह्मनेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर के गृहस्थ में रहते ईश्वर भक्ति साधना का मज़ाक उड़ाया और वृद्धावस्था में आकर उनके द्वारा दीर्घकालीन ईश्वर उपासना करने की उपमा उस वृद्ध पुरुष के मजबूरन शाकाहारी बन जाने से दी जो अब दांतों के न रहने के कारण मांस बोटियां चबाने में सक्षम नहीं रहा। प्रकारान्तर से उन्होंने परम ईश्वर भक्त देवेन्द्र ठाकुर

को मज़बूरी में भक्तिपथ पर अग्रसर होने वाला ढोंगी बता कर स्वयं के दम्भ तथा अहंकार को प्रकट किया। इन्हीं परमहंस जी के विश्व विश्रुत शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने प्रसंग आने पर बुद्ध, मोहम्मद, ईसा आदि सभी मत प्रर्वतकों की कठोर आलोचना करने में संकोच नहीं किया।[10] फिर भी तुर्रा यह कि उनके अंध भक्त उन्हें परम सहिष्णु, समन्वयशील तथा विभिन्न मत-पन्थों के प्रशंसक समझ बैठे हैं। सच तो यह है कि स्वामी विवेकानन्द ने विभिन्न मत-सम्प्रदायों की तीखी आलोचना करने में कहीं कहीं तो सीमा का अतिक्रमण कर दिया है।[11]

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये मत-सम्प्रदायों की आलोचना को देखना चाहिए। स्वामी दयानन्द यह जानते थे कि खण्डन-मण्डन एक अत्यन्त संवेदनशील विषय है। सत्य को सुनने तथा सत्यवक्ता को appreciate करने की शक्ति विरलों में ही होती है। ऐसी स्थिति में यदि अज्ञानी लोगों ने खण्डन-मण्डन में निहित स्वामी दयानन्द के हृदयस्थ भावों को न समझ कर उन्हें असहिष्णु, परमतद्वेषी, निन्दक तथा धार्मिक सौहार्द को क्षति पहुंचाने वाला कहा, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? दयानन्द के एतद्विषयक आन्तरिक भावों को समझने वाले कम लोग हैं। सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में वे स्पष्ट कर देते हैं– (1) मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।

इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध के चारों खण्डनात्मक समुल्लासों की अनुभूमिकाओं में स्वामी जी ने अपने इस आलोचना प्रधान कार्य की सफ़ाई देते हुए लिखा (2) मेरे इस कर्म (अर्थात् मतमतान्तरों के खण्डन मण्डन) का यदि

उपकार न मानें तो विरोध भी न करें। क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं है, अपितु सत्यासत्य का निर्णय करने–कराने का है। (11वां समुल्लास अनुभूमिका) पुनः 12वें समुल्लास की अनुभूमिका में वे लिखते हैं (3) जो जो हमने इनके जैन, बौद्धादि के विषय में लिखा है वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है न कि विरोध वा हानि करने के अर्थ। मत-मतान्तर विषयक खण्डन-मण्डन की प्रयोजनीयता बताते हुए स्वामी दयानन्द 13वें समुल्लास की अनुभूमिका में लिखते हैं। (4) सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मत विषयक पुस्तकों को देख-समझ कर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें वा लिखें। इस्लाम विषयक चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका में स्पष्ट किया कि "यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए है।" इस प्रकार स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये मत-मतान्तरों के खण्डन में निहित उनकी पक्षपात रहित मनोवृत्ति तथा सत्यासत्य निर्णय में इसकी उपयोगिता को ही मानना चाहिए। जब वे अन्य मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करते थे तब भी इस बात को स्पष्ट कर देते थे कि यह सारा विचार-विमर्श सत्यासत्य के निर्णय की दृष्टि से किया जा रहा है। इसमें स्वमत को एकान्ततः सत्य बताना तथा पर मत को सर्वथा दोष युक्त सिद्ध करना उनका कभी लक्ष्य नहीं रहा। वे सत्य के सतत अन्वेषी रहे।

खण्डन-मण्डन में स्वामी दयानन्द की इस तटस्थ तथा पक्षपात शून्य नीति का ही यह परिणाम रहा कि पौराणिक मत के समर्थक पं. हीरावल्लभ (कर्णवास)[12] तथा पं. हरिशंकर (कन्नौज) ने उनके कथन की सत्यता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। बरेली के लाट पादरी डॉ. टी.जे. स्काट स्वामी जी के भक्त बने तथा उनके व्याख्यानों के नियमित श्रोता

रहे। लाहौर के रहीम खां ने स्वामी जी द्वारा की गई कुरान की आलोचना को सद्भावनापूर्वक स्वीकार किया तथा सर सैयद अहमद खां स्वदेशोन्नति के विषय में उनसे गहन परामर्श करते रहे। चांदापुर के धर्म मेले में भाग लेने वाले पादरी तथा मौलवी भी स्वामी दयानन्द की सत्यनिष्ठा के प्रशंसक रहे किन्तु यह निहायत अफ़सोसनाक वाकया कहा जाएगा कि धार्मिक सहिष्णुता का स्वयं को अलम्बरदार मानने वाले गांधी जी को स्वामी जी की यह निष्पक्ष वृत्ति फूटी आंख नहीं सुहाई।[13]

पाद टिप्पणियां

1. यजुर्वेद–'पृच्छामित्वां तथा अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' आदि मंत्र
2. इन आध्यात्मिक संवादों और शास्त्रार्थों के लिए छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद् एवं शतपथ ब्राह्मण के प्रासंगिक स्थल द्रष्टव्य हैं।
3. नैयायिक आचार्य उदयन ने कुसुमांजलि लिखकर वैदिक ईश्वरवाद का सतर्क प्रतिपादन किया है।
4. सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक मत प्रतिपादक श्लोक।
5. शंकर दिग्विजय में शंकराचार्य द्वारा शाक्त, पाशुपत, क्षपणक, कापालिक तथा वैष्णव संज्ञक मिथ्यावादी मतों का खण्डन किये जाने का उल्लेख है।
6. द्रष्टव्य– ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य में कपिल प्रोक्त सांख्य तथा पातंजल योग के सिद्धान्तों का खण्डन।
7. वाचस्पति मिश्र ने इसी नीति का अनुसरण कर सांख्य दर्शन पर सांख्य तत्त्व कौमुदी, योग दर्शन पर योगदर्शन वृत्ति (भोजकृत) की टीका तथा वेदान्त के शाङ्कर भाष्य पर विशद 'भामती' नाम की टीका की रचना की।
8. भागवत के एक श्लोक–उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटिकवृद्धिमागता।
   स्थित किंचिमहाराष्ट्रे गुर्जरीजीर्णतां गता॥
   के आधार से यह कहा जाता है कि भक्ति आन्दोलन द्रविड़

देश (दक्षिण भारत) में उत्पन्न हुआ, कर्नाटक में उसे विस्तार मिला। महाराष्ट्र में वह स्वल्प काल तक प्रचलित रहा और गुजरात में जीर्ण हो गया।

9. राजा राममोहन राय द्वारा किये गये पौराणिक तथा ईसाइयत की मान्यता के खण्डन को विस्तार से उनके ग्रन्थों में देखा जा सकता है। इसके लिए "Complete works of Raja Ram Mohan Roy" ग्रन्थ द्रष्टव्य है।
10. स्वामी विवेकानन्द द्वारा किये गये बौद्ध, ईसाइयत, इस्लाम तथा थियोसोफी मत के खण्डन के लिए इस लेखक का ग्रन्थ "स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द एक तुलनात्मक अध्ययन" के प्रासंगिक स्थल द्रष्टव्य हैं।
11. उपर्युक्त ग्रन्थ।
12. "स्वामी दयानन्द का कर्णवास प्रवास"—इस पुस्तक में स्वामी दयानन्द और पं. हीरावल्लभ के मूर्तिपूजा विषयक शास्त्रार्थ का विस्तृत विवरण दिया गया है। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर पं. हीरावल्लभ ने स्वामी दयानन्द के मत की सत्यता को स्वीकार किया तथा अपनी उपास्य मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया।
13. द्रष्टव्य—यंग इण्डिया (वर्ष 1924 में गांधी जी की स्वामी दयानन्द विषयक निराधार तथा पूर्वाग्रह युक्त आलोचना।

दशम सूत्र

ऋषि दयानन्द की वेदाणारित समग्र क्रान्ति

जब कोई व्यक्ति सर्वस्व त्यागी होकर संन्यास की दीक्षा लेता है तो प्रतिज्ञा रूप में उसे पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से स्वयं को सर्वथा मुक्त करना पड़ता है। ऐषणा त्याग का अभिप्राय यह है कि अब आगे संन्यास का व्रत ले लेने पर न तो उसे स्त्री, पुत्र, परिवार के प्रति कोई आसक्ति रहेगी और न वह धन के प्रति कोई आकर्षण अनुभव करेगा। साथ ही लोक के प्रति भी उसमें समत्व भाग जग जायेगा और वह निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, सुख-दुख, यहां तक की जीवन और मरण के प्रति भी आसक्ति रहित हो जायेगा। पुराकालीन महापुरुषों ने इसी प्रकार निरासक्त होकर तप, त्याग और वैराग्य का मार्ग ग्रहण कर चतुर्थाश्रम की दीक्षा ली थी। ऐसे परिव्राजकों की नामावलियां हमारे इतिहास में सुरक्षित हैं।

तथापि इन सर्वस्व त्यागी संन्यासियों ने स्वहित की अवहेलना भले ही की हो, लोकहित तथा जन कल्याण को सर्वोपरि महत्त्व दिया था। आचार्य शंकर ने अल्प काल में ही गुरु गोविन्दपाद से संन्यास ले लिया था किन्तु उनका अनतिदीर्घ जीवन शास्त्रों की व्याख्या[2] तथा वैदिक धर्म की पुनः स्थापना में जैन व्यतीत हुआ था। शंकराचार्य द्वारा जैन-बौद्धादि अवैदिक नास्तिक मतों का मूलोच्छेद करने तथा सत्य सनातन वैदिक धर्म को आर्यावर्त में पुनः प्रतिष्ठित करने के महान् कार्य की श्लाघा करते हुए युग पुरुष दयानन्द ने लिखा था– "बाइस सौ वर्ष हुए कि एक शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़

कर सोचने लगे कि अहह! सत्य आस्तिक वेदमत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है। इनको किसी प्रकार हटाना चाहिए।" इस प्रकार वैदिक धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने में शंकराचार्य के पुरुषार्थ की स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र सराहना की है।

द्रष्टव्य स.प्र.।।वां समुल्लास।

आचार्य विष्णुगुप्त–इसी भारत में चाणक्य जैसा महामति, प्रज्ञा पुरुष उत्पन्न हुआ था जिसने यद्यपि विधिवत् संन्यास की दीक्षा नहीं ली थी किन्तु अपनी अद्वितीय बुद्धिमत्ता, सूझबूझ तथा नीतिमत्ता के कारण जिसने नन्दों के अत्याचारी साम्राज्य को समाप्त किया और चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का अधीश्वर बनाया। इस साम्राज्यस्रष्टा महापुरुष का उत्तरवर्ती जीवन सर्वथा निरासक्त, सांसारिक वैभव-विलास से दूर एक तपस्वी का सा था जिसके पर्ण-लता आवेष्टित निवास का चित्र अंकित करते हुए नाटककार विशाखदत्त ने लिखा है–"यह है महामति चाणक्य की पर्णकुटी। इसके भीतर एक ओर यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए समिधाएं रखी हैं तो दूसरे छोर पर समिधाओं को तोड़ने के लिए एक पत्थर पड़ा है। कुटिया का छप्पर इतना क्षीण है कि रात्रि के समय उससे चन्द्रमा की शीतल किरणें छन छन कर आती हैं। बस भारत के विगत महामंत्री का यही सादगी भरा जीवन है।" *–(मुद्राराक्षस नाटक)*

समर्थ रामदास–संन्यास की दीक्षा शिवाजी महाराज को हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा में प्रवृत्त करने वाले समर्थ रामदास ने भी ली थी। कहते हैं कि युवा रामदास का जब विवाह हो रहा था और उन्हें वैवाहिक प्रतिज्ञाएं बोलने के लिए कहा जा रहा था तो अचानक उन्हें आसन्न गृहस्थ के दायित्व को ग्रहण करने में अरुचि हुई और वे विवाह मण्डप को त्याग कर युग पुरुष रामदास बन गये।

स्वामी दयानन्द की संन्यास दीक्षा– स्वामी दयानन्द के संन्यास ग्रहण में प्रमुख दो कारण दिखाई देते हैं। प्रथम, परमात्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना और मृत्यु के रहस्य को जानना। आगे चलकर जब उन्होंने स्वदेश के विभिन्न भागों में भ्रमण कर उक्त रहस्यों का समाधान जानना चाहा तो उन्हें पता लगा कि समस्या उससे कहीं अधिक गम्भीर तथा भयंकर है जितनी कि वह दिखाई देती है। उन्हें धर्म के नाम पर सर्वत्र पाखण्ड, अंधविश्वास तथा अंधश्रद्धा दिखाई दी। उनकी जीवनी में एक प्रसंग आता है जब उन्होंने परिस्थितियों की भयावहता को देखा और उसे लाइलाज पाया। तब उनके हृदय में निराशा की काली घटाएं उमड़ पड़ीं और एक बार तो विचार आया कि इस जीवन में क्या रखा है, क्यों नहीं शरीर को हिमालय की इन बर्फ़ानी उपत्यकाओं में विसर्जित कर दूं? किन्तु तत्क्षण निराशा दूर हो गई और दूसरा विचार मन में कौंध गया कि मर जाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है, अपितु ज्ञान प्राप्त कर परोपकार में स्वयं को लगाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।[3] द्रष्टव्य– *नव जागरण के पुरोधा* (उत्तराखण्ड परिभ्रमण अध्याय) लोकोपकार के इसी श्रेष्ठ विचार ने आगे चलकर स्वामी दयानन्द को स्वधर्म, स्वदेश तथा अखिल मानवता के हित के लिए स्वयं को सर्वात्मना समर्पित करने की प्रेरणा दी। उनके जीवन में हम देखते हैं कि जब जब उन्हें लोक संग्रह के मार्ग को छोड़कर केवल स्वकल्याण के पथ पर चलने के लिए कहा गया, तब तब उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि निज का हित कर लेना कोई बहुत बड़ा पुरुषार्थ नहीं है। मानव जीवन का लक्ष्य तो सर्वभूत हित में लग कर निखिल मानवता की सेवा में स्वयं को लगाना है। उनके जीवन के कतिपय ऐसे प्रसंग द्रष्टव्य हैं–उत्तराखण्ड भ्रमण काल में ऊखी मठ के महन्त ने जब उनके तप, त्याग, वैराग्य और विद्वता को देखा तो उन्हें परामर्श दिया

कि वे इधर उधर का देशाटन छोड़कर इस मठ में उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लें और महन्त पद के अधिकारों और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का उपभोग करें। वीतरागी दयानन्द का स्पष्ट उत्तर था कि यदि उन्हें धनसम्पत्ति और वैभव की लालसा होती तो उनके पिता की सम्पत्ति कम नहीं थी। जब उस पैतृक वैभव का मोह न रख कर उन्होंने वैराग्य का मार्ग ग्रहण कर लिया तो अब इस पथ से उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता। लोकहित उनकी प्रथम और अन्तिम कामना है।

लगभग ऐसा ही उत्तर उन्होंने सोरों के गंगातट पर स्वामी कैलाशपर्वत नामक एक संन्यासी को दिया जिसने उन्हें परामर्श दिया था कि उच्च योग साधना युक्त दयानन्द को लोकहित के पचड़े में न पड़कर समाधि सिद्धि पूर्वक ब्रह्मानन्द का आस्वादन कर अपने परलोक को बनाना चाहिए। स्वामी दयानन्द का स्पष्ट उत्तर था "यदि मैं एकाकी समाधि सिद्ध कर परमार्थ के पथ पर चल पड़ूं तो यह मेरा शुद्ध स्वार्थ होगा। **मैं तो जन जन को क्लेश, कष्ट, आपद-विपद से मुक्ति दिलाकर अधिक से अधिक लोगों की भलाई करना चाहता हूं।** दयानन्द की इसी लोकानुरंजन वृत्ति ने सर्वस्व त्यागी होने पर भी उन्हें एक महान वैचारिक क्रांति का सूत्र धार बनाया और उनका यह क्रान्तिकारी चिन्तन अध्यात्म, धर्म, समाज, राष्ट्र तथा निखिल मानव हित का कार्यक्रम लेकर संसार के सामने आया।

यहां हम ऊपर संकेतित बिन्दुओं को शीर्षक बना कर स्वामी दयानन्द की समग्र क्रान्ति की एक रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं। ध्यान रहे कि दयानन्द के चिन्तन की यह क्रान्तिकारी विचारधारा सर्वतोभावेन वेदों के उदात्त विचारों पर आधारित है।

स्वामी दयानन्द की आध्यात्मिक क्रान्ति– प्राणिशास्त्र की

दृष्टि से मानव तथा पशु में कतिपय समानताएं हैं जिन्हें सूक्तिकार ने आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के रूप में वर्गीकृत किया है किन्तु इन दोनों को पृथक् करने वाला तत्व 'धर्म' संज्ञक है जो मनुष्य को सत्यासत्य, न्याय-अन्याय तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की प्रतीति कराकर उसे सत्य, न्याय तथा स्वकर्त्तव्य में नियोजित करता है।[5] तथापि मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति इस बात पर निर्भर है कि क्या वह अपने दुर्गुणों, दुर्व्यसनों तथा दुरितों को त्याग कर भद्रता को ग्रहण करने के लिए तत्पर है? सद्मार्ग की ओर बढ़ने और दुरित त्याग की प्रवृत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक वह इसके लिए उस परमात्मा से विनय न करे जो वस्तुतः उसका शास्ता, प्रेरक तथा धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देने वाला है। वेदोदधि में विद्यमान सहस्रों मुक्तामणियों में से स्वामी दयानन्द ने एक ऐसा ही मंत्र चुना जिस पर आचरण कर मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति के सोपान पर निरन्तर बढ़ता जाता है और अन्ततोगत्वा अपने अन्तःकरण को सर्वथा निर्मल बनाकर श्रेयपथ का पथिक बन जाता है। प्रासंगिक मंत्र इस प्रकार है–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

यजु. 30/6

स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है–हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर। आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःख दूर कर दीजिए। जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं वह सब हमको प्राप्त कराइए। *(संस्कारविधिः सामान्य प्रकरण)।*

इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने बताया कि आध्यात्मिक पथ का पथिक बनने वाले के लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम स्वयं को दुरितों और दोषों से दूर रखे, तत् पश्चात्

स्वयं में सद्गुण, सत्कर्म तथा भद्र भावों का संचार करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना ही नहीं करे, एतदर्थ पुरुषार्थ भी करे। इस मंत्र को स्वामी जी ने वैदिक आचार-शस्त्र का मूर्धास्थानीय कहा है तथा स्वयं के वाङ्मय में इसकी सभी महत्वपूर्ण प्रसंगों में योजना की है। यह दयानन्द का सर्वाधिक प्रिय मंत्र है।

स्वामी दयानन्द की धार्मिक क्रान्ति

धर्माचरण से मनुष्य को अध्यात्म के पथ पर चलने की शक्ति मिलती है। स्वामी दयानन्द की दृष्टि में धर्म वह तत्त्व है, जो सत्य और न्याय से युक्त है, जिसमें पक्षपात का लेश मात्र भी नहीं है तथा जिसे जानने के लिए वेदों का ज्ञान होना आवश्यक है। यह धर्म ही है जिसका मूल सच्ची आस्तिक भावना में निहित रहता है। स्वामी दयानन्द ने अनुभव किया था कि आज सर्वत्र ईश्वर के स्थान पर जड़ तत्वों की पूजा हो रही है और सच्चिदानन्दादि लक्षणान्वित, वेद प्रतिपादित निराकार, निर्विकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक परमात्मा के स्थान पर पाषाण तथा धातु निर्मित मानवाकृति मूर्तियों को पूजा जा रहा है। इस जड़पूजा के प्रतिकार के लिए उन्होंने भारत के धर्म जगत् में एक नवीन धर्म क्रान्ति का प्रवर्तन किया। इसके द्वारा उन्होंने सामान्यतया मनुष्य मात्र को और विशेष रूप से भारत के निवासी आर्यों को संदेश दिया कि वे जड़ वस्तुओं की पूजा का त्याग करें और अप्रतिम बलशाली, यश के धाम उस परमात्मा की आराधना करें जिसकी कोई प्रतिमा या प्रतिकृति नहीं है और न किसी स्थूल प्रतीक के द्वारा उसे जाना जाता है। इस धार्मिक क्रांति के मूल में उन्होंने यजुर्वेद के (32/3) मंत्र के तत्त्वार्थ को देखा जो स्पष्ट घोषणा करता है कि महान् यशवाले परमात्मा की कोई प्रतिमा या

प्रतिकृति नहीं है। यह सर्वत्र व्यापक परमात्मा वेदों के जिन अन्य मंत्रों में स्मृत तथा व्याख्यात है उनकी प्रतीकें इस मंत्र के द्वितीयार्द्ध में दी गई हैं। ये परमात्मा प्रतिपादक मंत्र हैं–

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

यजु. 13/4

अर्थात् सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा सृष्टि के वर्तमान रूप में आने के पूर्व स्वसत्ता से विद्यमान था। उसी ने पृथ्वी तथा द्यौ आदि लोकों को स्वशक्ति से धारण किया है। मनुष्य को चाहिए कि वह उस सुख स्वरूप परमात्मा की उपासना अति प्रेम व विशेष भक्ति से करे। ध्यान रहे कि जब स्वामी दयानन्द से मूर्तिपूजा के खण्डन में किसी वेद मंत्र का प्रमाण मांगा गया था तो उन्होंने उपर्युक्त मंत्र को प्रस्तुत किया और दृढ़तापूर्वक बताया कि महान् यश वाले, सर्व व्यापक परमात्मा की कोई आकृति या मूर्ति नहीं हैं। एक अन्य मंत्र जिसका संकेत आलोच्य मंत्र में है, वह भी यजुर्वेद (8/36) का ही मंत्र है–

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति
यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि,
ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

अर्थात् जिस परमात्मा से बड़ा या तुल्य कोई दूसरा नहीं, जो समस्त लोकों को स्वयं के भीतर समाये है तथा स्वयं भी इन भुवनों में प्रविष्ट है, वह प्रजापति परमात्मा अपनी प्रजा में रम रहा है। उसी से सोलह कलाओं का जन्म हुआ है। ऋषि दयानन्द के अनुसार ये कलायें हैं 1. ईक्षण (विचार), 2. प्राण, 3. श्रद्धा, 4. आकाश, 5. वायु, 6. अग्नि, 7. जल,

8. पृथिवी, 9. मन, 10 अन्न, 11. वीर्य (पराक्रम) 12. तप (धर्म का अनुष्ठान), 13. मंत्र (वेद विद्या), 14. कर्म (चेष्टा), 15. लोक, (16) नाम।

इस प्रकार निराकार, अमूर्त, सर्वशक्तिमान ईश्वर के वेदोक्त स्वरूप का पदे पदे प्रतिपादन कर स्वामी दयानन्द ने धर्म जगत् में अभूतपूर्व क्रान्ति की। इसी का परिणाम रहा कि धर्म के नाम पर पनपने वाले अंधविश्वासों तथा धर्मान्धता पूर्ण कृत्यों पर रोक लगी। विचारशील लोगों ने अनुभव किया कि धर्म और बुद्धिवाद में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः युक्ति और तर्क के द्वारा ही वास्तविक धर्म का अनुसंधान किया जा सकता है। *(द्रष्टव्य-मनुस्मृति)*

ऋषि दयानन्द की सामाजिक क्रान्ति

परम निःस्पृह अवधूत दयानन्द ने समसामयिक भारत में सामाजिक चेतना को प्रायः विलुप्त, अर्द्ध मूर्छित अवस्था में देखा था। वेदों में जिस सुसंगठित, शक्ति सम्पन्न तथा बलशाली समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी उसे किस प्रकार पुनः मूर्तिमान किया जा सकता है तथा समाज के विभिन्न घटकों के बीच में आये अविश्वास, विद्वेष तथा शत्रुता के भावों को समाप्त कर सामंजस्य के भावों को कैसे पैदा किया जा सकता है, इसे वे भली भांति जानते थे। स्वामी दयानन्द ने व्यक्ति तथा परिवार के सुसंगठित निर्माण को बलशाली समाज संरचना की आवश्यक कसौटी बताया था। भारतीय समाज में मध्यकाल में जो दुर्बलता आ गई थी उसका एक कारण रहा था वर्ण विद्वेष का पनपना साथ ही स्पृश्यास्पृश्य की भावना, एक वर्ण का अन्यों की अपेक्षा स्वयं को ऊंचा मानना, जात्याभिमान के कारण तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों का अन्यों द्वारा अपहरण

आदि। यह स्थिति इतनी विकृत हो गई थी कि परमात्मा की कल्याणी वाणी वेदों के पठन-पाठन का अधिकार वर्ग विशेष ने स्वाधिकृत कर रखा था। यदि भूल चूक से कोई द्विजेतर व्यक्ति वेदों का उच्चारण, अध्ययन, मनन आदि करने की धृष्टता करे तो उसके लिए भयंकर दण्ड का विधान किया गया था।[6] इस विषम स्थिति को समाप्त कर समाज में पुनः सामंजस्य तथा समरसता की भावना को उत्पन्न करने के लिए ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट घोषणा की और बताया कि वेद परमात्मा की कल्याणी वाणी है जिसके पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन तथा मनन-चिन्तन पर मनुष्य मात्र का अधिकार है। सामाजिक समता का उद्घोष उन्होंने यजुर्वेद के निम्न मंत्र *(26/2)* को प्रस्तुत कर किया–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय॥

दयानन्द ने जिस सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया वह बहुआयामी थी। इसके द्वारा एक ओर जहां सामाजिक कुरीतियों का उच्छेद हुआ, वहां बहुधा विभक्त भारतीय समाज ने व्यक्ति हित से आगे बढ़कर समष्टि हित की बात को सोचना आरम्भ किया। मध्यकालीन समाज के नेताओं ने अपने संकीर्ण चिन्तन के द्वारा जहां व्यक्ति के हित और स्वार्थ को सर्वोपरि माना वहां स्वामी दयानन्द ने व्यक्ति और समाज के समन्वित और सन्तुलित विकास की बात कही। आर्यसमाज का नवां तथा दसवां नियम व्यक्ति और समाज के पारस्परिक हित साधन के लिए एक दूसरे पर निर्भर होने की बात करते हैं। व्यक्ति स्वयं के हित के लिए जब प्रयत्नशील हो उस समय भी वह व्यापक सामाजिक हित को सर्वथा ओझल न होने दे। इस प्रकार व्यक्ति और समाज

की भलाई अन्योन्याश्रित है। इसी में व्यक्ति और समाज के अधिकारों और कर्त्तव्यों का समन्वित विकास और रक्षण संभव है। दयानन्द द्वारा लाई गई सामाजिक क्रान्ति को समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों ने विस्तार से विवेचित किया है।

दयानन्द प्रवर्तित राष्ट्र क्रान्ति– स्वामी दयानन्द ने राष्ट्रोत्थान का मार्ग सुझाया और बताया कि वेदोपदिष्ट सप्त सूत्रों के सम्यक् धारण के द्वारा हम अपने राष्ट्र का सर्वांगीण विकास कर सकते हैं। अथर्ववेद के भूमिसूक्त (12/1) का प्रथम मंत्र पृथ्वी के आधारभूत जिन तत्त्वों को उल्लिखित करता है उनके द्वारा किसी भी राष्ट्र को उन्नति के पथ पर चलाया जा सकता है। दयानन्द के क्रांतिकारी चिन्तन की यह विशेषता रही कि वे भारत के निवासी अपने सहनागरिकों को पदे पदे चेताते रहे और उन्हें कहते रहे कि जिस धरती के द्वारा प्रदत्त अन्न और जल से उनका शरीर पोषित और पुष्ट हुआ है उस मातृ भूमि के प्रति उनका क्या दायित्व और कर्त्तव्य है? दयानन्द की यह राष्ट्र की आराधना प्राणवान तथा प्रेरणादायिनी सिद्ध हुई। भारतवासियों ने दयानन्द द्वारा प्रदत्त स्वराज्य के संदेश को सुना और तदनुसार संघर्ष कर स्वाधीनता प्राप्त की। दयानन्द के स्वराज्य चिन्तन की यह विशेषता थी कि उन्होंने देशवासियों को न केवल पराधीनता के अभिशापों से परिचित कराकर उनसे मुक्त होने के लिए कहा, अपितु चेतावनी भरे स्वर में सावधान किया कि अनेक कठिनाइयों, त्याग एवं बलिदान से उपार्जित स्वतंत्रता को भी तब तक स्थायी बनाकर नहीं रखा जा सकेगा जब तक देशवासी स्वयं में राष्ट्रीय चरित्र का विकास न कर लें तथा उन दोषों, दुर्गुणों और बुराइयों से सर्वथा दूर न हो जायें जिनके कारण विगत में उन्हें पराधीन बनना पड़ा था। दयानन्द ने सामाजिक सुदृढ़ता तथा समष्टि

के स्वास्थ्य को सुदृढ़ एवं बलवान राष्ट्र का प्रधान कारण माना था।

दयानन्द चिन्तन में मानववाद– दयानन्द का क्रांतिकारी चिन्तन राष्ट्र के कल्याण तथा उसकी अभिवृद्धि पर ही समाप्त नहीं होता। उन्होंने सम्पूर्ण मानवता के हित की बात कही और अपने संदेश को विश्व व्याप्ति प्रदान की। जिन वेदों को आधार बनाकर उन्होंने लोकहित की साधना की थी उनमें न केवल मानव, अपितु प्राणिमात्र की कल्याण कामना की गई है। **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'**[8] की वैदिक सूक्ति प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखने की बात करती है। **'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'** की अथर्ववेदीय उक्ति[9] का आशय सम्पूर्ण दिशाओं में रहने वाले मानवों तथा इतर प्राणियों के प्रति मैत्री भावना की अभिवृद्धि करना है। वेदों में जो शान्ति सूचक मंत्र[10] आये हैं वे द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, पृथ्वीलोक, जल, औषधियां, वनस्पति जगत् आदि ब्रह्माण्ड के सभी सूक्ष्म-स्थूल तत्वों में शान्ति, समन्वय तथा सौमनस्य की भावना को जगाते हैं। वेदों में संस्कृति शब्द को विश्व व्यापी मानव संस्कृति के रूप में उल्लिखित किया गया है– **सा प्रथमासंस्कृतिर्विश्ववारा** *(यजुर्वेद 7/14)*

वैदिक प्रार्थना का स्वारस्य जिस मंत्र की भावना में निहित है उसका अभिप्राय यही है कि संसार में हम जहां कहीं जो चेष्टा करते हैं, परमात्मा वहां हमें निर्भीक बनाये। मानवी प्रजा तथा इतर प्राणियों से हमारा व्यवहार प्रेमपूर्ण तथा भयरहित हो।[11] स्वामी दयानन्द ने वेदों में प्रदर्शित इसी मानवतावाद को देखा था, परखा था तथा वे इसी के प्रचार-प्रसार के इच्छुक थे। वे व्यक्ति तथा समाज का समन्वित हित चाहते थे। व्यष्टि तथा समष्टि का किसी भी

रूप में संघर्ष उन्हें इष्ट नहीं था। इसी भाव को उन्होंने आर्यसमाज के दो अन्तिम नियमों में उल्लिखित किया है। सार्वजनिक हित में व्यक्ति का हित निहित है तथा सामाजिक हित सम्पादन करने के लिए व्यक्ति को एक सीमा तक अपने निजी हित का बलिदान करना पड़ता है। ये वे स्वर्णिम सूत्र हैं जो व्यक्ति तथा समाज के सार्वत्रिक अभ्युदय की कुंजी कहे जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द ने जिस विचार-क्रांति का सूत्रपात किया वह मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को अपने भीतर समाविष्ट किये है। दयानन्द के इस क्रान्तिकारी चिन्तन को अमली जामा पहना कर हम अपनी आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा निखिल मानव की हितवर्द्धक योजनाओं को मूर्तरूप दे सकते हैं। दयानन्द ने जिस आदर्श मानव की कल्पना की थी उसमें वे मननशीलता का गुण अनिवार्य बताते हैं।[12] यह वह मानव है जो अन्यों के सुख-दुःख और हानि लाभ को अपना सुख दुःख तथा हानि लाभ मानता है। वह अन्यायकारी बलवान से भयभीत नहीं होता जबकि धर्माचरण करने वाले निर्बल के प्रति सम्मान का भाव रखता है। इस प्रकार की समत्व बुद्धि वाला आदर्श मानव दयानन्द द्वारा परिभाषित आर्य है।

पाद टिप्पणियां

1. संस्कारविधि में संन्यास प्रकरण।
2. शंकराचार्य का प्रस्थानत्रयी भाष्य (उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत भाष्य) प्रसिद्ध है। उनके अन्य फुटकर ग्रन्थ भी मिलते हैं।
3. हिमालय पर्वत पर पहुंचकर यह विचार आया कि यहीं शरीर गला दूं। *पूना प्रवचन– 15वां (आत्मकथा परक) प्रवचन।*
4. ऊखी मठ के प्रसंग को 'नवजागरण के पुरोधा' : दयानन्द सरस्वती

के अध्याय 'उत्तराखण्ड परिभ्रमण' में देखें।

5. आहार निद्रा भय मैथुनं च आदि नीति शतक– के श्लोक
6. द्रष्टव्य–गौतम धर्म सूत्र में निर्दिष्ट ऐसे अत्याचार युक्त विधान।
7. सत्य, वृहद् ऋत, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ, इन्हें अथर्ववेद में पृथ्वी को धारण करने वाले तत्त्व बताया गया है। 12/1/1 विस्तृत व्याख्या के लिए देखें, डॉ. भवानीलाल भारतीय कृत 'वैदिक मातृभूमि वंदना।'
8. यजुर्वेद 36/18
9. अथर्ववेद 19/15/5, 6
10. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति– आदि यजुर्वेदीय मंत्र 36/17
11. यतोयतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु।
12. मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे। स्वमन्व्यामंतव्यप्रकाश।

स्वराज्य के प्रथम उद्घोषक महर्षि दयानन्द

स्वराज्य के लिए तथा प्राचीन वैदिक संस्कृति के लिए हमारे वीर बहादुर देशभक्त सदियों से विदेशी विधर्मी आतताइयों से झूझते आ रहे थे। सिन्ध के महाराजा दाहर, लाहौर तथा काबुल के राजा जयपाल, आनन्दपाल, दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान, मेवाड़ के महाराणा प्रताप, राणा सांगा, रणथम्बोर के महाराज हमीर और दुर्गादास राठौर, विजय नगर के राजा कृष्ण देव, महाराष्ट्र के शिवाजी, देशधर्म पर बलिदान होने वाले बालक वीर हकीकत राय, गुरू तेगबहादुर, गुरू गोविन्द सिंह एवं उनके प्रिय बच्चे, वीर बन्दा बैरागी, भाई मति दास, चित्तौड़ की महारानी पद्मनी, झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई, राजा कुंवर सिंह, तांत्या टोपे, नाना जी राव पेशवा, मंगल पाण्डे, तथा असंख्य देशभक्त वीर बलिदानी, लाखों अमर शहीदों ने अपनी भारत माता पर खून बहाया। देश और धर्म की रक्षा के लिए, देश की आन बान शान के लिए अपना सर्वस्व बलिदान किया। स्वतंत्रता के शिल्पी, देश और धर्म के लिए अपना सारा जीवन लगा देने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके सारे शिष्य अमर बलिदानी श्यामजी कृष्ण वर्मा, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द लाला लाजपत राय वीर सावरकर भाई, भाई परमानन्द आदि हज़ारों लाखों वीर शहीदों ने मुस्लिम आतताइयों से लेकर अंग्रेज़ों तक स्वतंत्रता के लिए कड़ा संघर्ष किया, अपनी जवानियां लुटाकर आख़री सांस तक लड़ते रहे। नई पीढ़ी में सरदार भगत सिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद, बाबू सुभाषचन्द्र बोस, आदि ने अपना जीवन न्यौछावर किया।

भारत को दारुलइस्लाम बनाने का ख्वाब लेकर, 500 वर्ष तक यहां राज करने के बाद, सत्ता के बल पर भी वह भारत माता को इस्लामी राष्ट्र नहीं बना सके, उसका एक ही कारण था कि हमारे पूर्वज तन और धन से भले गुलाम थे परन्तु मन से कभी गुलाम नहीं हुए। इसे दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि देश के कर्णधारों ने देश के टुकड़े कर दिये। जनमत लिए बिना, आर्यसमाज, हिन्दु महासभा के घोरतम विरोध के बावजूद 14-15 अगस्त 1947 की आधी रात को देश का बंटवारा कर दिया।

बोलो बापू अब मौन त्याग, क्यों तुमने देश बटा डाला।
अपनी ही आंखों के आगे, क्यों मां का भाल कटा डाला॥

तहरीर (लेखन) के क्षेत्र में पं. लेखराम के उत्तराधिकारी
डॉ. भवानी लाल भारतीय

आवालवृद्ध आर्यों के दिल और दिमाग पर पं लेखराम जी का विशेष स्थान है। वैदिक धर्म प्रचार की वह तड़प, अपने लहू से ऋषि दयानंद का चरित्र लेखन और अंत में उन के रक्त/रंजित बलिदान का मूल्य कौन चुकाएगा। हम सब मिलकर भी उन का सम्यक आकलन नहीं कर सकते। पं. लेखराम ने 39 वर्ष के अपने अल्पवय में जितना कार्य किया उतना कार्य हम लाखों आर्य समाजी मिलकर भी नहीं कर पा रहे हैं। पं. लेखराम का उपदेश तथा लेखन का जीवन मात्र 15-16 वर्ष का रहा है। उन्होंने ऋषि जीवन चरित्र के एक हज़ार पृष्ठ लिखे। 'कुलियात आर्य मुसाफ़िर' के तीन खंड के अतिरिक्त उन की छोटी बड़ी पुस्तकों की संख्या बहुत अधिक है। अपनी मृत्यु शय्या से आर्यों के नाम संदेश में पं. लेखराम ने कहा था - "तकरीर और तहरीर का काम बंद नहीं होना चाहिए।"

पं. लेखराम के लेखन के उत्तराधिकारी हुए डॉ. भवानी लाल भारतीय का लेखन 1949 में आरंभ हुआ। उन की प्रथम रचना 'ऋषि दयानंद और अन्य भारतीय धर्माचार्य' 1949 में छपी। डॉ. भवानी लाल भारतीय की अनेक रचनाओं में 1983 में ऋषि निर्वाण शताब्दि पर प्रकाशित (1) ऋषि दयानंद का शोधपूर्ण जीवन चरित्र (2) नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, (3) श्रद्धानन्द ग्रंथावली (11 "खंड") (4) पं. लेखराम रचित स्वामी दयानन्द के वृहद् जीवन चरित्र का आलोचनात्मक सम्पादन (5) ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन (6) आर्य समाज विषयक साहित्य का परिचय (7) आर्य समाज का इतिहास (पाँचवां भाग), (8) आर्य लेखक कोश (9) स्वामी दयानन्द, व्यक्तित्व विचार एवं मूल्यांकन तथा "स्वामी दयानन्द पश्चिम की दृष्टि में" प्रमुख हैं। अब तक उन की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या 125 है। आर्य पत्रिकाओं में प्रकाशित सहस्रों लेखों की बात दीगर है।

ज्वलंत कुमार शास्त्री